-श्रीकृष्ण-
सन्देश
र्ष : ५ • अंक : ३

१. श्रद्धांजलि-समारोहकी झाँकी

जन्माष्टमीके दिन श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके रंगमंचपर आयोजित श्रद्धांजलि-समारोहमें संघके उपाध्यक्ष स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती भाषण कर रहे हैं। मंचपर श्रीसीतारामशरणदासजी, श्रीवियोगीहरिजी तथा सेठ श्रीगोविन्ददासजी दिखायी पड़ रहे हैं।

श्रीकृष्ण-सन्देश
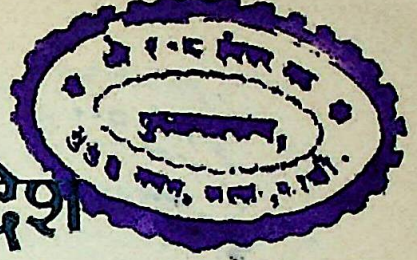
धर्म, अध्यात्म, साहित्य एवं संस्कृति-प्रधान मासिक

★

प्रवर्तक
ब्रह्मलीन श्री जुगलकिशोर बिरला
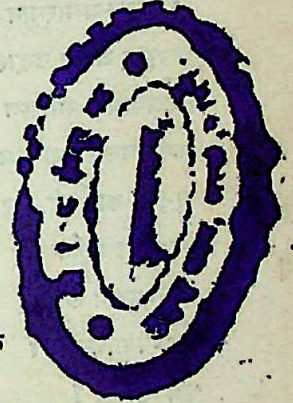
परामर्श-मण्डल

स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वती

श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार

डॉ० श्रीभुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

श्रीजनार्दन भट्ट एम०ए०

श्रीहितशरण शर्मा एम०ए०

प्रबन्ध-सम्पादक

देवधर शर्मा

सम्पादक

पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य

स० सम्पादक

विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

वर्ष : ५ अङ्क : ३
अक्टूबर, १९६९

वार्षिक शुल्क : ७.००
आजीवन शुल्क : १५१.००

प्रकाशक :
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा
दूरभाष : ३३८

विषय-सूची

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान : प्रेरणाप्रद

प्रत्यक्षदर्शियोंके उद्‌गार

(अक्टूबर १९६९)

★

माननीय श्रीदेवधरजी शर्माके निमंत्रणपर यहाँ आया और भगवान्‌की परम प्रिय मनमोहक छविके दर्शनकर अति प्रसन्न हुआ। क्या ही सुन्दर एवं प्रभावशाली सिद्ध मूर्ति है मेरे प्रभुकी। मन करता है कि दर्शन करता रहूँ। १५ वर्ष पूर्व श्रीवालकृष्ण शर्मा 'नवीन'के साथ यहाँ आया था। तब केवल खण्डहर-ही-खण्डहर थे। जन्माष्टमीकी रातको भगवान्‌का अर्चन-वन्दन करके प्रस्थान कर गया; परन्तु अबकी बार आनेपर इतना विशाल निर्माणकार्य देखकर आश्चर्यचकित रह गया। ऐसा लगता है कि प्रभुने अपने भक्तरूप विश्वकर्माओंको भेजकर अपना चिरकालीन उपेक्षित कार्य प्रारम्भ कराया है, जो बड़ा द्रुत गतिसे सम्पन्न होता जा रहा है। प्रभु हमारे सेवासंघके सदस्यों और कार्यकर्ताओंके हाथोंको और भी सबल एवं समर्थ बनाकर अपने इस कार्यको पूर्ण करायें—यही मेरी मंगलकामना है।

म० म० स्वामी चेतनानन्द चिदाकाशी

परमाध्यक्ष : श्रीसत्यधर्म मण्डल, ७/५, पूर्वी पटेलनगर, नयी दिल्ली–८

आज मैंने भगवान् श्रीकृष्णके पावन जन्मस्थानके दर्शन किये। सैकड़ों वर्षोंतक पृथ्वीके भीतर और खण्डहरके रूपमें पड़े जन्मस्थानका जीर्णोद्धार एक परम पवित्र संकल्पका परिणाम है। आशा है कि इस स्थानकी महिमा-गरिमाके अनुरूप अति शीघ्र निर्माण निष्पन्न हो जायगा, जो करोड़ों श्रद्धालु नर-नारियोंके विश्वास और श्रद्धाका साकार रूप होगा।

वासुदेव सिंह

उपाध्यक्ष, विधान सभा, उत्तर-प्रदेश, लखनऊ

श्रीकृष्ण भगवान्‌के पवित्र जन्मस्थानके दर्शनकर हृदयमें अति प्रसन्नता एवं आनन्दका अनुभव हुआ। प्रभुके दर्शनोंका भान हुआ। प्रभुसे यही प्रार्थना है कि सदा इसी प्रकार दर्शन देते रहें। यह सब उन्हींकी परम कृपाका फल है कि आज हम इस पवित्र भूमिके दर्शन पा सके और हमें आशा है कि यह भागवतभवन, जिसका निर्माण हो रहा है, एक महान भवनका रूप लेगा।

मिसेज एल० एस० विष्ठ,

द्वारा—श्री एल० एस० विष्ठ, (आई० जी०) देहली

कुछ मित्रोंके साथ श्रीकृष्ण-जन्मस्थान देखनेका सुअवसर मिला। यहाँके निर्मित और निर्माणाधीन भवनोंके दर्शन हुए। मैं स्तब्ध रह गया जब मुझे प्राचीन सिंहासन तथा प्राचीरका भग्नावशेष दिखाया गया और खो गया पुरातत्वकी स्थापत्य-कलाओंमें। बहुत ही अच्छा है यहाँका प्रबन्ध। वातावरण धार्मिक भावनासे ओतप्रोत है। मेरी कामना है कि यहाँ लोग आवें, दान दें और भगवान् श्रीकृष्णकी स्मृतिको युग-युगके लिए चिरस्थायी करनेमें सहयोग दें।

रामजीलाल सहायक
शिक्षा मंत्री, उत्तर-प्रदेश, लखनऊ

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान नूं पुनरुत्थान नूं कार्य बहुत सुन्दर रीतै चालै छै। आ कार्य प्रमाणों अगड़ वदतु रेवु जाँहिये। खूब सुन्दर कार्य छै।

गिरधरदासजी कानजी
प्रमुख—आर्ट सिल्क एण्ड काटन क्लाथ सेल्स एसोसियेशन, बम्बई–२

परम परमेश्वरकी कृपासे जन्मस्थान देखनेका सौभाग्य मिला। इसके बारेमें कुछ लिख सकूँ, ऐसी क्षमता मैं नहीं रखता। प्रार्थना करता हूँ कि इस पुण्यभूमिका दर्शन तथा याद करनेका बार-बार मौका मिले।

बजरंगलाल जाजू
१–ए, देवेन्द्रलाल खान रोड, कलकत्ता–२७

हमलोग अपने परिवार सहित श्रीगुरुजी स्वामी कृष्णानन्दजीके साथ कृष्ण-जन्मभूमिके दर्शनार्थ आये और यहाँ भलीभाँति दर्शन किये। भगवान् कृष्णजीके साक्षात् दर्शन हुए और मनको अत्यन्त शान्ति हुई। यहाँ बहुत ही सुन्दर ढंगसे प्रबन्ध-कार्य देखकर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ।

लेडी डाक्टर ग्रोवर
एन–१०२/ए, कीर्तिनगर, नयी दिल्ली

श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके भव्य स्मृति-मन्दिर केवल भारतके लिए नहीं, सारी मानव-जातिके लिए एक शुभ प्रेरणाके प्रतीक हैं।

स्वामी सत्यकामानन्द
रामकृष्णमिशन विवेकानन्द स्मृति-मन्दिर, खेतड़ी (राजस्थान)

I am greatly impressed by the simplicity of the room, Where Lord Krishna was born. One feels going there that a great soul was born at that place.

Antti. A. Olkinuora
Finland (Europe)

Very happy to come here again where a great work is undertaken. The Janma Bhumi of Lord Krishna is a place of pilgrimage to us all. I ardently wish the place should be come a great centre of devotion, love and research and learning.

I wish their endeavour every success.

B. Gopal Reddy

Governor Uttar Pradesh, 22nd Aug. 1969.

I have been to this holy place twice today. Its charms will be treasured in my memory for the rest of my life.

G. K. Mittar

Judge, Supreme Court of India, New Delhi

We have enjoyed going round this sacred place of birth of Lord Krishna. Construction of the temple at this place is a good impetus for the furtherance of religions teachings of the Lord.

Brig. K. K. Tewari

H. Q. I. Corps

We, forty pilgrims from Assam visited the holy birthplace of Lord Sri Krishna and moved on seeing the various sacred place connected with Lord Krishna. We were cordially received and we shall carry with us the sacred memory of Mathura to Assam.

Auniatia Deka Goswami, Auniatia Satra

Sib Sagar, Assam

It is really a place to be improved in allrespects including modern aminities. The trust is trying to achieve this Best object whole heartedly. Now a visitor can visualise the grandeur of the place and feel proud of the holy place of Sri Krishna.

Jaganiany, For H. H. Pattada, Sri Parvatha Raja,
Shiva Charya Swamiji, Sri Mutt

Hunsamavanahallis, Bangalore Disst. (Mysore)

गांधी-शताब्दीके उपलक्ष्यमें

मोहन–मोहन दास

दोनों महा भारतके नेता नमनीय रहे
दस्यु-द्रुम भञ्जनको दोनों हुए आंधी थे,
दोनोंके प्रयाससे स्वराज्य मिला भारतको
दोनों आधिहर दोनों विगत-उपाधी थे,
एकने तो चक्रसे कुचक्र तोड़ा शत्रुओंका
दूसरे सु चारु चरखाके समाराधी थे,
दोनों दीनबन्धु दोनों परमकृपाके सिन्धु
मोहन तथैव दास मोहनके गांधी थे।

—'राम'

श्रीकृष्ण-सन्देश

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

वर्ष : ५] मथुरा, अक्टूबर १९६९ [अङ्क : ३

स्वयम् अपना उद्धार करो

यदि कोई विशाल सरिता या सरोवरके अगाध जलमें उतर जाय और पानीके तीव्र वेगमें तैर न सके तो शत-प्रतिशत उसके डूब जानेकी ही संभावना रहती है। यदि उसने स्वयं हाथ-पाँव नहीं मारा तो दूसरा कोई उसे बचा नहीं सकेगा। दर्शक देखते और हाय-हाय करते रह जायँगे, कोई उसे अतलगर्तमें विलीन होनेसे रोक नहीं सकेगा। उस परिस्थितिमें वह स्वयं पुरुषार्थ करके ही अपना उद्धार कर सकता है। यही बात संसार-सागरसे अपने उद्धारके विषयमें समझनी चाहिए। यदि तुम स्वयं कोई प्रयास न करो तो अनन्त जन्म बीत जानेपर भी तुम्हारा उद्धार न होगा। दूसरा कोई आकर तुम्हें इस भवसागरसे उबार लेगा, ऐसी आशा दुराशामात्र है। स्वयं साधना करो, यत्न करो और अपनेको डूबनेसे बचाओ। यदि मुझे याद रखते हुए तुम सच्चाईके साथ प्रयत्न आरम्भ कर दोगे तो मैं अवश्य तुम्हारी मदद करूँगा। तुम्हें इस मृत्युसंसार-सागरसे शीघ्र पार कर दूँगा। किन्तु यदि तुम स्वयं अकर्मण्य होकर बैठ गये, तो कुछ भी न हो सकेगा। सामने परोसी हुई थालीका अन्न भी तुम्हारे मुखमें तभी जायगा, जब तुम अपने हाथसे उसको उठाकर मुँहमें डालोगे। प्रत्येक दशामें तुम्हारा अपना प्रयत्न आवश्यक होगा। दूसरा कोई तुम्हें मुक्तिकी मञ्जिल तक

नहीं पहुँचा सकेगा। मोक्ष या भगवत्प्राप्ति दैवके भरोसे या भीख माँगनेसे मिलनेवाली वस्तु नहीं, उसमें अपना पुरुषार्थ ही प्रधान रूपसे अपेक्षित है; फिर मेरी कृपा तो सदा, सब दशामें सबके साथ है ही। मेरी इस वाणीको सदा याद रक्खो, गीतकी भाँति गुनगुनाया करो—'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्।'

तुम कदापि इसके लिए अपनेको अयोग्य या अनधिकारी न मानो। स्वराज्यकी ही भाँति स्व-राज्य (मोक्ष) पर भी तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है। 'मैं अत्यन्त तुच्छ और नितान्त साधारण हूँ। काम-क्रोधादि दोषोंसे आक्रान्त हूँ। मेरे किये भला क्या हो सकेगा? मेरी क्या बिसात, जो मैं अनन्त, अगाध भवसागरसे पार हो सकूँ?' इत्यादि बातें कदापि न सोचो। क्योंकि ये अपनेको अवसाद-विषादमें डालनेवाली—हतोत्साह बनानेवाली हैं। इन बातोंसे मनुष्यकी हिम्मत टूटती है, हौसले पस्त होते हैं। वह पुरुषार्थसे दूर भागता और सदा अपनी असमर्थताका रोना रोता रहता है। अतएव मेरा कथन है कि 'नात्मानमवसादयेत्।' अपनेको अवसाद-विषादमें न डालो, हीन न मानो तथा निरुत्साह न करो। अवसादनका अर्थ नीचे गिराना भी होता है। तुम अपने स्वरूप तथा सहज शक्तिको भुलाकर कामादि दोषोंसे आक्रान्त एवं मन-इन्द्रियोंके गुलाम बनकर अपने आपको नीचे न गिराओ, नरकमें न डालो।

तुम ऐसा क्यों नहीं सोचते हो कि 'संसारमें कोई ऐसा दुष्कर कार्य नहीं, जिसे मैं न कर सकूँ। निरन्तर अध्यवसाय, सतत प्रयत्नसे सब कुछ संभव है। कुछ भी असाध्य या असंभव नहीं है। उत्साही कर्मवीर पुरुष सब कुछ कर सकते हैं। वे पहाड़ोंको पैरों तले रौंदकर वहाँ सुन्दर सड़कें बना सकते हैं। मरुभूमिमें भी सहस्रों नदियाँ और नहरें प्रवाहित कर सकते हैं। लौकिक और पारलौकिक सारी सिद्धियाँ उनके सामने हाथ बाँधे खड़ी रहती हैं।' पहले यह विचार करो कि 'मैं कौन हूँ?' अथवा मुझसे सुनो कि तुम कौन हो? तुम जड़ नहीं चेतन हो। चैतन्यघनस्वरूप मुझ परमेश्वरका अंश हो। अंश अपने अंशीसे भिन्न नहीं है। तुममें वह सब शक्ति विद्यमान है, जो मुझ अंशीमें है। आगकी एक छोटी-सी चिनगारी ही क्यों न हो, वह रुईकी पर्वतोपम राशिको, तृणकी सहस्र-सहस्र ढेरियों-को बातकी बातमें जलाकर भस्म कर सकती है। उसमें अग्निकी दाहिका शक्ति पूर्णतः विद्यमान है।

ऐसी बातोंका विचार करनेसे तुम्हें बल मिलेगा, तुम्हारी उत्साहशक्ति द्विगुणित होगी, मनकी दुर्बलता दूर होगी और आत्माकी सबलताका अनुभव होगा। तुम काम-क्रोधादिको दूर भगाकर इन्द्रिय, मन-बुद्धिको नियन्त्रणमें रख सकोगे आत्मबलसे सम्पन्न पुरुष क्या नहीं कर सकता? जो आत्मबलसे हीन है वह अपने उद्धारमें सर्वथा असमर्थ होता है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' यह श्रुतिकी सूक्ति प्रसिद्ध है। इसीलिए मैं फिर कहता हूँ कि तुम अपने आपको निर्बल मानकर नीचे न गिराओ—'नात्मानमवसादयेत्।'

सहायता की आशा उससे की जाती है, जो अपना सगा हो, बन्धु हो, सुहृद हो। संसारके सारे नाते-रिश्ते स्वार्थपर अवलम्बित हैं। स्वार्थपर आघात लगते ही सब मुँह मोड़ लेते हैं। स्वार्थोपासक तो दूसरोंको लौकिक लाभ भी नहीं दे सकते, पारमार्थिक

लाभ तो दूरकी बात है। जो स्वयं घाटेमें हो वह दूसरेको क्या लाभ देगा? जो खुद बँधा है, वह दूसरेको कैसे मुक्त कर सकता है? पहले स्वयं तो मुक्त हो ले। जिसे बन्धनकी अनुभूति हो वही उससे छूटनेका प्रयास करता है; अतः आत्मा स्वयं ही अपने आपको मुक्त करनेके लिए यत्नशील होनेके कारण अपना बन्धु है, दूसरा नहीं; 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः।'

यदि तुम अपने उद्धारकी चिन्ता नहीं करते तो स्वयं ही अपने शत्रु हो; दूसरा कोई नहीं। जो आत्माको कुसंगमें पड़कर नीचे गिराता जाता है और उसे उठानेकी, अपनेको नरकसे उबारनेकी कोई चेष्टा नहीं करता है, वह आत्महत्यारा है। अपने उत्थानकी उपेक्षा भयंकर आत्महनन है। अतः जैसे आत्मा अपना बन्धु है, उसी तरह वह स्वयं अपना शत्रु है—'आत्मैव रिपुरात्मनः।'

'आत्मा ही बन्धु और आत्मा ही शत्रु है' यह बात कुछ विचित्र-सी लगती है। अतः यह स्पष्ट रूपसे समझ लेना होगा कि किस अवस्थामें आत्मा अपना बन्धु है और किस स्थितिमें अपना शत्रु। जिस आत्माने अपने अन्तरात्मा या अन्तःकरणको जीत लिया है; उसे वशमें कर रखा है; उसीका आत्मा उसका बन्धु है। जिसने अन्तरात्माको नहीं जीता, वशमें नहीं किया, बल्कि स्वयं मन-इन्द्रियोंका गुलाम बन बैठा है, वह कामोपासक आत्मा स्वयं ही अपना शत्रु है। वह खुद ही अपने साथ शत्रुतापूर्ण बर्ताव करता है—

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

मित्रवत्सल श्रीकृष्ण

सखा द्वार आये या कि जीवन-आधार आये,
द्वारका-धनीने दौड़ उरसे लगाया है,
सुहृद सुदामाकी निहार दयनीय दशा—
करुणा-निधानके दृगोंमें जल छाया है।
मेरा मित्र रंक हो कलंक है असह्य यह,
बेर नहीं पलमें कुबेर-सा बनाया है;
चाह भरे चावलोंको चावसे चबाया या कि
द्विजकी दरिद्रताको दाँतोंमें दबाया है॥

'राम'

कल्याणकारी आचरण,
मनुष्य कहाँ रहे, कहाँ न रहे !

★

जो मनुष्य स्थूलदृष्टिसे आश्रमोंके धर्मको देखता है, उसका सन्देह धर्मका निरूपण करते समय कभी दूर नहीं हो सकता और जो मनुष्य सूक्ष्म-दृष्टिसे उनके मर्मको ढूंढ़ता है, वह मोक्षको सब आश्रमोंके धर्मका फल समझता है। जिस मनुष्यको शास्त्रका ज्ञान नहीं है, उसके लिए मित्रोंपर दया करना, शत्रुओंको दण्ड देना, त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का संग्रह करना, पापोंसे बचे रहना, सदा शुभ कर्म करना और सज्जनोंके साथ सद्व्यवहार करना भला है। वह सब प्राणियोंपर दया रखे, सबके साथ सरलताका वर्ताव करे, मीठी बातें करे, देव, पितर और अतिथिकी पूजा करे, सेवकोंके साथ अहंकार न करे, सत्य बोले, सत्य ज्ञानका अवलम्बन करे, गर्व न करे, सावधान और सन्तुष्ट रहे, ईश्वरकी उपासना करे, धर्मके अनुसार वेद और वेदान्त पढ़े तथा ज्ञानका उपार्जन करनेके लिए शास्त्र जाननेकी इच्छा करे। जो मनुष्य अपना कल्याण चाहे वह शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध आदिका सेवन मात्रासे अधिक न करे, रातमें न घूमे, दिनमें न सोवे, आलस्य, दुष्टता और अहंकारका त्याग कर दे। वह न तो बेहद आहार-विहार ही करे और न उसे सर्वथा छोड़ ही बैठे। दूसरोंकी निन्दा करके अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना अनुचित है। प्रतिष्ठा अपने गुणोंसे ही मिलती है। ऐसे अनेक आत्माभिमानी गुणहीन मनुष्य मौजूद हैं, जो गुणवानोंकी समता करनेके लिए उनपर दोषारोपण करते हैं। वे शिक्षित होनेपर भी गर्वके मारे अपनेको गुणवान् मनुष्योंसे बढ़कर गुणी समझते हैं।

गुणवान् विद्वान् मनुष्य अपने मुँह अपनी बड़ाई और दूसरोंकी निन्दा किये बिना ही समाजमें यशस्वी होता है। जैसे फूल अपनी बड़ाई और दूसरोंकी निन्दा किये बिना ही समाजमें यशस्वी होता है और अपनी सुगन्धि चारों ओर फैला देता है। जैसे सूर्य अपने मुँहसे अपने गुणोंका बखान न करके अपनी किरणोंसे आकाश-मण्डलको प्रकाशित कर देते हैं वैसे ही श्रेष्ठ पुरुष अपनी प्रशंसा न करके अपने गुणोंसे संसारमें प्रसिद्ध होता है। मूर्खलोग अपनी प्रशंसा करके सब जगह बदनाम हो जाते हैं। विद्वान् मनुष्य कितना ही क्यों न छिपा रहे, प्रसिद्ध हो ही जाता है। मूर्ख मनुष्य चाहे चिल्ला-चिल्लाकर भी कोई बात कहे किन्तु निस्सार होनेके कारण उसकी बात व्यर्थ हो जाती है और विद्वान् मनुष्यकी धीरे भी कही हुई बातको, सारवान् होने के कारण, सब लोग मानते है। जैसे सूर्यकान्त मणिके संयोगसे सूर्यका प्रकाश बहुत बढ़ जाता है वैसे ही मूर्ख मनुष्य कुवाक्य कहकर अपनी नीचता प्रकट कर देता है। इसी कारण अपना कल्याण चाहनेवाला मनुष्य ज्ञानवान् होनेके लिए यत्न करे। ज्ञानवान् होना ही मेरे

मतमें सबके लिए अच्छा है। विना पूछे या अनुचित रीतिसे पूछे जानेपर भी ज्ञानवान् मनुष्य जड़के समान चुपचाप बैठा रहे। जो मनुष्य अपने कल्याणकी इच्छा करे उसे सदाचारी, धर्मात्मा और दानी मनुष्योंके पास बैठना चाहिए। जहाँ चारों वर्णोंके धर्मका उल्लंघन किया जाता हो वहाँ कभी न ठहरे। संसारमें जो मनुष्य जैसी संगति करता है उसे वैसा ही पुण्य-पापके स्पर्शसे सुख और दुःख मिलता है। विरले ही मनुष्य भोजनके स्वादका विचार न करके केवल निर्वाहके लिए भोजन करते हैं, इसलिए वे भोग आदि विषयोंमें लिप्त होते नहीं हैं और जो भोजनका स्वाद लेता है वह भोगके विषयमें फँसा रहता है।

जहाँ शिष्य गुरुके पास जाकर उद्दण्डताके साथ प्रश्न करे और गुरु उसे धर्मका उपदेश दें; वह स्थान ज्ञानवान् मनुष्यको छोड़ देना चाहिए। वहींपर रहे जहाँ शास्त्रके अनुसार अध्ययन और अध्यापन होता हो। जिस देशमें अपनी प्रतिष्ठाके लिए विद्वान् पुरुषपर मिथ्या दोष लगाया जाता हो वहाँ बुद्धिमान् मनुष्यको नहीं रहना चाहिए। लोभी, मूर्ख मनुष्योंके द्वारा जिस देशमें धर्मका नाश किया जा रहा हो उस देशको जलते हुए कपड़ेकी तरह त्याग देना चाहिए। सज्जनोंको उसी देशमें रहना चाहिए जहाँ महात्मा लोग बेधड़क धर्म-कर्म कर सकें। धर्मकी ओटमें धन पैदा करनेसे पाप लगता है, अतएव जिस देशमें मनुष्य धन उपार्जन करनेके लिए धर्म करते हों वहाँ कभी न रहे। जिस देशमें मनुष्य दुष्कर्मोंद्वारा अपना निर्वाह करते हों उस देशको साँपवाले घरकी तरह शीघ्र छोड़ दे। कल्याण चाहनेवाले मनुष्य को उन कर्मोंका त्याग कर देना चाहिए जिन्हें करके साधनाओंके वशवर्त्ती लोग दुःख भोगते हैं। जिस देशमें राजा और राजकर्मचारी अपने परिवारको भोजन दिये विना स्वयं पहले भोजन कर लेते हों, उस राज्यमें बुद्धिमान् मनुष्य निवास न करें।

सज्जनोंको उसी राज्यमें रहना चाहिए जिसमें यज्ञ करानेवाले, अध्यापक और धर्म-परायण श्रोत्रियगण सबसे पहले भोजन करते हों। जिस देशमें स्वाहा, स्वधा और वषट्कार शब्दका नित्य उच्चारण होता हो उसी देशमें विना सोचे-समझे सज्जन निवास करें। जिस राज्यमें आचारभ्रष्ट, अपवित्र ब्राह्मण हों उस राज्यको विष मिले हुए भोजनके समान त्याग दे। जिस देशके मनुष्य बिना माँगे, प्रसन्नतासे दान करते हों वहाँ सज्जन बेखटके निवास करें। जिस देशमें उद्दण्ड मनुष्योंको दण्ड दिया जाता हो और सज्जनोंका सम्मान होता हो उसी देशमें पुण्यवान् महात्माओंके साथ निवास करना चाहिए। जिस देशका राजा विषयोंका त्याग करके—जितेन्द्रिय मनुष्योंपर क्रोध करनेवाले, सज्जनोंपर अत्याचार करनेवाले—लोभी, उद्दण्ड मनुष्योंको दण्ड देता हो और धर्मके अनुसार राज्यका पालन करता हो उस राज्यमें विना आगा-पीछा सोचे निवास करना चाहिए। इस प्रकारका अच्छे स्वभाववाला राजा हमेशा प्रजाका हित करता है। अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिए मैंने ये उपाय बतलाये हैं। जो मनुष्य अपने धर्मपर चलता हुआ सावधानीसे इन नियमोंके अनुसार निर्वाह करता है वह अपनी असीम उन्नति कर सकता है।

—महाभारतसे

अपने-अपने कर्तव्य कर्मके सम्यक् अनुष्ठानसे व्यापक परमात्माकी आराधना होती है।

विराट्का अर्चन

ब्रह्मलीन म०म० प० श्रीगिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

संसारके सभी व्यक्ति कुछ न कुछ नियत कार्य अवश्य करते हैं। प्रत्येक मानव अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार कुछ न कुछ करनेको बाध्य है। भारतीय दर्शनकी यह उन्मुक्त घोषणा है कि 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'—कोई भी व्यक्ति क्षण भर भी बिना काम किये नहीं रह सकता। भारतीय आचारशास्त्र अत्यन्त प्राचीन और परम वैज्ञानिक है। संसारमें आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिपर यदि यह भार दे दिया जाय कि वह अपना कार्य स्वयं निर्धारित करे तो मानवोंकी आधी आयु तो अपना कार्य निर्धारण करनेमें ही पूरी हो जायगी। अतः संसारमें सभी मनुष्योंके कुछ निश्चित कार्य रहते हैं, जिन्हें वे स्वभावतः करने लग जाते हैं। भारतमें चार पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिए वर्ण और आश्रम-व्यवस्थाकी स्थापना की गयी थी जिसका लक्ष्य मानवके विशाल, विस्तृत और विविधतासे भरे जीवन-प्रवाहको एक निश्चित दिशा प्रदान करना था।

मानव शरीरको स्वस्थ और प्रसन्न तभी रखा जा सकता है, जबकि शरीरके सभी अंग अपना-अपना निश्चित कार्य करते रहें। शरीरका कोई अंग यदि अपना कार्य ठीकसे नहीं कर पाता तो शरीरकी निरोगता समाप्त हो जाती है और वह रोगाक्रान्त हो जाता है, फलतः चित्तकी प्रसन्नता जाती रहती है। जब चित्त प्रसन्न रहता है तभी सब प्रकारकी समुन्नति करनेमें मानवकी प्रवृत्ति होती है। इसी दृष्टान्तसे भारतीय शास्त्र यह समझाते हैं कि सभी मानव व्यापक ईश्वरके अंगोंके समान हैं। मानव ही क्यों, सभी चराचर विराट् ईश्वरके अंग हैं। उनके कार्य प्रतिनियत हैं। उस विराट्की जो अर्चना करता है वह अवश्य सिद्धि प्राप्त करता है। उस विराट्की अर्चनाका जो विधान है वह यही है कि अपने कार्यमें प्रवीणताका संपादनकर उसी कार्यसे उस ईशकी अर्चनाकी जाय। गीतामें भगवान्ने कहा है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

प्रत्येक मानव अपने कार्याकार्यका शास्त्र-बोधित निर्णय प्राप्त करे, प्रज्ञामें उसे प्रतिष्ठित करे और तदनुसार संसार-यात्रामें प्रवृत्त होकर अपने कार्यमें प्रवीणताका संपादन करता जाय,

इसीसे सामाजिक सुव्यवस्था तथा समुन्नति संभव होती है। यद्यपि कार्य तो सभी करते हैं, परन्तु प्राकृतिक स्थितिसे बाध्य होकर जब कार्य करना अनिवार्य ही है तब उसे सम्यक् प्रकारसे करना ही सिद्धिका सोपान होता है। अपने भीतर सभी प्रकारकी शक्तियोंका संचय कर अपने आपको इतना ऊँचा उठाया जाय कि ईश्वरके साथ अभेद स्थापित हो जाय। यही परमा सिद्धि है। ईश्वरका ईश्वरत्व यही है कि वह सबसे बड़ा है। उससे बड़ा और कोई नहीं है। मानवकी भी प्रतिक्षण यही कामना रहती है कि वह अपनी सीमाओंको तोड़कर असीम होता चला जाय। यदि कोई शासनका कार्य करता है तो वह सर्वदा अपने शासनकी सीमाओंको गिरानेकी अभिलाषा रखता है, ऊँचे से ऊँचे पदकी कामना करता है। यदि कोई धन-संग्रहका कार्य हाथमें लेता है तो उसकी यही अभिलाषा रहती है कि धनकी सभी सीमाओंसे वह ऊपर उठ जाय, तात्पर्य यह कि सभी मानव अपनेको असीम बनानेकी अभिलाषा रखते हैं। निस्सीमता एकमात्र ईश्वरमें ही है, अतः मानवकी चरम सिद्धि ईश्वर-भावको प्राप्त कर लेना ही है। उसकी प्राप्ति कोरी अभिलाषाओंसे नहीं हो सकती। वह तो अपने-अपने कार्यको पूर्ण निष्ठा, निपुणता और तत्परतासे करनेसे ही संभव है।

देशकी रक्षाके लिए नियुक्त सैनिक देशकी ओर बुरी नियतसे आँख उठाकर देखने-वालोंको पूरी वीरतासे दण्ड देते हैं। यही उसका ईशार्चन है। भीष्म पितामह बाणोंकी शय्यापर लेटे-लेटे ईश्वरका ध्यान करते समय कहते हैं—

युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलंकृतास्ये।
मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा॥
(भागवत)

अर्थात् मेरी बुद्धि उन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चिन्तनमें लगे, जिनका मुखारविन्द युद्ध-क्षेत्रमें सारथ्यके समय बालोंमें घोड़ोंके पैरोंसे उड़ी हुई धूलके भर जानेके कारण कपोलोंके समीपसे बहती हुई धूसरित स्वेद धाराओंसे अलंकृत हो रहा है, और जिनकी त्वचा मेरे तीक्ष्ण बाणोंके प्रहारसे क्षत-विक्षत हो गयी है, जिनका कवच मेरे शस्त्रोंसे विदीर्ण हो गया है। रणांगणमें किसी वीर क्षत्रियका ईशार्चन किस प्रकार का होना चाहिए, तथा पितामह भीष्म जैसे प्रवीण धर्म-मर्मज्ञने किस प्रकारके ईशार्चनमें अपनी अभिलाषा प्रकट की यह इस उदाहरणसे स्पष्ट है।

ज्ञानोपार्जन करनेवालेकी अर्चनामें ज्ञानका विभिन्न स्रोतोंसे उपार्जन और उसका सम्यक् वितरण ये सब सम्मिलित हैं, यही उसकी स्वकर्मणा अर्चना है। 'साहित्य-सेवा'का संज्ञा भी इसी प्रकारसे चरितार्थ होती है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कार्यका कुशलतासे संपादन करता हुआ ईशार्चनका फल प्राप्त कर सकता है। उसीमें सारी सिद्धियोंका बीज निहित है।

•

क्या वे दोनों बालक श्याम और राम थे ?

विश्वम्भरकी लीला

★

ब्रह्मचारी श्रीशिवानन्दजी 'आञ्जनेय'

आजसे प्रायः साठ वर्ष पूर्वकी बात है पूज्य श्रीमहाराजजी फर्रुखाबाद जिलेमें एक बंबेके किनारे जा रहे थे। आषाढ़का महीना था। वर्षाऋतुने वायु, बादल और बिजलीकी तड़क-भड़कसे अपने आगमनकी सूचना दे दी थी। आप सोचने लगे कि बरसात आ रही है, अब कहाँ रहना चाहिए। आसपास चातुर्मास्यमें ठहरने योग्य कोई गाँव भी नहीं है। इन विचारोंकी उधेड़-बुनमें सायंकाल हो गया। भगवान् भास्कर विश्राम लेनेके लिए अरुण वस्त्र धारण कर अस्ताचलकी ओर सिधार रहे थे। आकाशमण्डलने उनकी विदाईके अवसरपर समयानुसार अरुणवर्ण बिछौना बिछा दिया था। आप एक शिंशिपावृक्षके तले सिद्धासन लगाकर विराज गये। आज दिनभर भिक्षा नहीं हो पायी थी। सायंकाल भी बीत चुका था। उदरमें वैश्वानराग्नि प्रज्वलित हो रही थी। उसमें आहुति देकर प्राणयज्ञ करना था। इधर-उधर दृष्टि डालनेपर कोई गाँव दिखायी नहीं दिया। जब आपने देखा कि भिक्षाप्राप्तिका कोई उपाय नहीं है तो आप प्राणोंके प्राण अपने स्वरूपमें स्थित हो गये। 'क्या होता है भूख-प्यास' ऐसा सोचकर अपने निर्गुण साक्षी स्वरूपमें समाकर बुभुक्षाकी उपेक्षा कर दी।

कुछ रात्रि व्यतीत हो गयी। पश्चिमकी ओरसे बादल तितर-बितर हो गये। निर्मल आकाश निशानाथ चन्द्रमाके विहारके लिए उनकी प्रतीक्षा करने लगा। इतनेमें निशाकरका उदय हुआ। उनकी स्निग्ध ज्योत्स्ना चारों ओर छिटककर उस वन्य-प्रदेशको आलोकित करने लगी। सब ओर शान्तिका साम्राज्य छा गया। सारी सृष्टि मानो अमृतपानके लिए खुले हृदयसे निहारने लगी। इसी समय दो सुन्दर बालक खिलखिलाकर हँसते हुए आपकी ओर आये। उसके सौन्दर्यने उस प्रदेशको और भी सुन्दर कर दिया। चन्द्रमाने उनके सौन्दर्य-माधुर्यको और भी निखारनेके लिए उन्हें अपनी चमकीली ओढ़नी ओढ़ा दी। मानों स्वयं ही अपने हाथोंसे उनका श्रृंगार कर दिया। उन बालकोंके मुखचन्द्र व्रजचन्द्रके मुखार-विन्दके समान मन और हृदयको चुरानेवाले थे। उनके मधुर हास्यने आपको अपनी ओर आकर्षित कर लिया। फिर उन्होंने पूछा, 'बाबा ! आप रोटी खाओगे ?'

आपने झट कहा, 'हाँ बेटा ! यह तो बताओ, तुम्हारा घर कहाँ है और तुम किस जातिके हो ?'

बच्चे हँसी-खुशीमें झूमते हुए बोले, 'बाबा ! हम तो पास ही के एक गाँवके हैं और माहेश्वरी बनिये हैं।'

बाबा—अरे बेटा ! तुम रात्रिके समय अकेले क्यों घूम रहे हो ?

बच्चे—बाबा ! हम तो यहाँ खेलते-खेलते चले आये हैं।

श्रीमहाराजजीको वे दोनों बालक अत्यन्त प्रिय लगे। उन्होंने आपके चित्तको आकर्षित कर लिया। जान पड़ता था कि वे इस लोकके निवासी नहीं हैं, क्योंकि उनकी

सुन्दरता दिव्यातिदिव्य और हँसी तथा बोली मधुररस-चोरी थी। वे दोनों जाकर थोड़ी ही देरमें दो मोटी-मोटी रोटी और केलेका शाक ले आये। आप अवतक ब्राह्मणके अतिरिक्त किसी अन्य वर्णकी भिक्षा नहीं लेते थे। परन्तु उन बालकोंने ऐसा मन्त्रमुग्ध कर लिया कि उनकी जातिका विचार न करके आपने वह भिक्षा प्रसन्नतासे पा ली। उसी दिनसे इस नाटकीय ढंगसे आपने तीनों वर्णोंकी भिक्षा करना आरम्भ कर दिया। विधि-निषेधकी शृङ्खलाकी एक कड़ी टूट गयी। दोनों भाई उस चन्द्रिकार्चित वातावरणमें आपकी सन्निधिमें खूब हँसते, खेलते और नाचते रहे। उनकी रसमयी क्रीडाओंसे रसनिधि चन्द्रदेव भी मुग्ध हो रहे थे, फिर आपके विषयमें तो कहना ही क्या है। उनकी मीठी-मीठी बोली तथा बालचापल्यने आपको अपनी ओर आकर्षित कर लिया। दृश्यमात्रका बाध करनेवाला आपका हृदय भी इन बालकोंके सौन्दर्य, माधुर्य, और चाञ्चल्यसे मुग्ध हो गया। वे केवल आपके सामने ही क्रीडा नहीं कर रहे थे, प्रत्युत आपके हृदयाङ्गणमें भी विहार करने लगे। फिर वे बोले, "बाबा! हम जायँ?" आपने कहा, "अच्छा बेटा!"

रात दो घड़ी बीत चुकी थी। उनके जानेपर आप अपने स्वरूपध्यानमें बैठ गये। परन्तु उन दोनों भाइयोंकी दिव्य-मुसकान, चंचल चितवन, तोतली बोली और ललित लीलाएँ आपके मानसपटलपर ऐसी अंकित हुई मानो वे अब भी आपके आगे ज्योंकी त्यों हो रही थीं। आप भीतर-भीतर जैसे-जैसे आनन्दमग्न होते थे वह आनन्द वैसे-वैसे ही नेत्रोंसे छलकने लगा था। उन्होंने तो आपका चित्त ही चुरा लिया। भावोद्रेकमें दोनो आँखोंसे गंगा-यमुनाकी भाँति प्रेमाश्रुओंकी धाराएँ बहने लगीं। मानो उन दोनों धाराओंसे आप दोनों भाइयोंका अभिषेक ही कर रहे थे। निर्गुण-निराकार ध्यानमें आपका मन नहीं लगा, इसलिए आप ध्यान छोड़कर लेट गये।

थोड़ी नींद लेकर आप उठे तो बड़े आश्चर्यकी बात कि वे ही दोनों भाई ब्राह्ममुहूर्त्तकी सुहावनी वेलामें मधुर मुसकानके सम्मोहनास्त्र चलाते नृत्य कर रहे थे। वे हँस-हँसकर 'बाबा-बाबा' कहते आपके पास बैठ गये। आपने पूछा, "अरे! तुम इतनी रातमें क्यों चले आये? अभी तो दिन भी नहीं निकला।" वे बोले, "बाबा! हम खेलनेके लिए चले आये हैं। आप यह बताओ कि कुछ छाछ पिओगे?" आपने कहा, "हाँ!" वे झट जाकर एक पात्रमें छाछ ले आये और आपके तूँबेमें भर कर चले गये। आपने शौचादिसे निवृत्त हुए बिना ही वह छाछ पी ली। उसके एक-एक घूँटमें अद्भुत आनन्दमय रसकी अनुभूति होती थी। अब यह बात चालू हो गई कि प्रेममें नियम नहीं होता।

सूर्योदय होनेपर आपको यह जाननेकी उत्कण्ठा हुई कि ये बालक कहाँ रहते हैं। इधर-उधर पूछ-ताछ की तो मालूम हुआ कि यहाँ तो दूर-दूर तक कोई गाँव नहीं है। फिर मार्गमें एक महात्मासे इस प्रसंगकी चर्चा की तो उन्होंने कहा, "यह भगवान् विश्वम्भरकी लीला है।"[1] ●

---

[1]. पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाके जीवनकी एक अद्भुत घटना उनके अप्रकाशित जीवन-चरित 'हमारे श्रीमहाराजजी'से।

कर्मण्येवाधिकारस्ते

★

(एक संतका प्रसाद)

भगवान् तिलकने गीताको कर्मयोग-शास्त्र कहा है। महात्मा गांधीने अनासक्ति योगके नामसे उसे पुकारा हैं। अद्वैतवादी संतोंने उसको ज्ञानप्रधान ग्रन्थ कहा है। पर इस बातको तो सभी महापुरुषोंने माना है कि यह लोक कर्मभूमि है एवं स्वर्गादिकोंको योगभूमि कहा जाता है। यहाँ जो जैसा बोता है वैसा काटता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है कि :

तुलसी काया खेत है, मनसा भयौ किसान।
पाप पुन्य दोउ बीज हैं, बुवै सो लुनै निदान॥

इसी बातको श्रीभगवान्‌ने गीताके १३वें अध्यायमें सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा है :

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। (गीता १३।१)

शरीरके लिए खेत, जीवके लिए किसान तथा कर्मके लिए बीजसे बढ़िया उपमा हो ही नहीं सकती। श्रीभगवान्‌ने दूसरे ही अध्यायमें कहा :

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। (गीता २।४७)

अर्थात् कर्ममें तो तेरा अधिकार है फलमें नहीं। विद्वान् लोगोंने इन १६ अक्षरोंके एकसे एक बढ़िया अर्थ किये हैं। पर आजका मानव पूछता है "ठीक रहा, जब फिक्स्ड डिपॉजिटमें रुपया हमने जमा किया उसपर हमारा अधिकार है तो उसके फल अर्थात् ब्याजपर हमारा अधिकार क्यों नहीं, उसपर किसका अधिकार है, जब मूल हमारा है तो ब्याज भी हमको मिलना चाहिए।" इसका समाधान एक संत इस प्रकार करते हैं कि कर्ममें तुम्हारा अधिकार है इसका सीधा सच्चा भाव यह है कि कर्म करते समय तुमको पूर्ण अधिकार है जैसा चाहे बीज छाँटो और उसका वपन करो पर जिस समय उसका फल तुम्हारे सामने आयेगा उसके परिवर्तन करनेका तुमको कोई अधिकार नहीं। तुमको पूर्ण अधिकार है चाहे जौ बोओ चाहे गेहूँ, पर एक बार जब जौ बो दिया तो उसके फलको जौ से गेहूँ तुम नहीं कर सकते, इसमें तुम्हारा अधिकार नहीं है। अतः जो भी कर्म करो खूब सोच समझकर करो, शास्त्रसम्मत करो, आत्मानुकूल करो; क्योंकि इस समय धनुषबाण तुम्हारे हाथमें है, बाणपर तुम्हारा पूर्ण अधिकार है पर एक बार पूर्व दिशामें छोड़ा हुआ बाण पश्चिममें लक्ष्यवेध नहीं कर सकता उसमें तुम्हारा अधिकार नहीं। इसलिए क्या करना चाहिए (कार्य है) अथवा क्या न करना चाहिए (अकार्य है) इसमें शास्त्रको प्रमाण मानो; क्योंकि शास्त्रके विधानको जानकर ही तुमको कर्म करना चाहिए।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ (गीता १६।२४)

अतः वेद स्मृति सत्पुरुषोंके आचारके अनुसार तथा अपनी आत्माको प्रिय लगनेवाला कर्म करो ताकि फलानुभूतिके समय पछताना न पड़े क्योंकि :

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

●

शब्दातीत आत्मा ही धर्म है—

धर्म क्या है ?

आचार्य रजनीश

★

मैं धर्मपर क्या कहूँ ? जो कहा जा सकता है वह धर्म नहीं होगा। जो विचारसे परे है, वह वाणीके अन्तर्गत नहीं हो सकता। शास्त्रोंमें जो है, वह धर्म नहीं है। शब्द ही वहाँ हैं। शब्द सत्यकी ओर जानेके भले ही संकेत हों, पर वे सत्य नहीं हैं। शब्दोंसे संप्रदाय वनते हैं और धर्म दूर ही रह जाता है। इन शब्दोंने ही मनुष्यको तोड़ दिया है। मनुष्योंके वीच पत्थरोंकी नहीं, शब्दोंकी ही दीवारें हैं।

मनुष्य और मनुष्यके वीच शब्दकी दीवारें हैं। मनुष्य और सत्यके बीच भी शब्दकी ही दीवार है। शब्दोंका एक मंत्र-घेरा है और हम सव उसमें सम्मोहित हैं। शब्द हमारी निद्रा है और शब्दके सम्महोक अनुसरणमें हम अपने-आपसे वहुत दूर निकल गये हैं।

स्वयंसे जो दूर और स्वयंसे जो अपरिचित है, वह सत्यसे निकट और सत्यसे परिचित नहीं हो सकता। यह इसलिए कि स्वयंका सत्य ही सबसे निकटका सत्य है, शेष सव दूर है।

शब्द स्वयंको देखनेमें बाधक हैं। उनकी तरंगोंमें वह सागर छिप ही जाता है। शब्दोंका कोलाहल उस संगीतको अपने तक नहीं पहुँचने देता जो कि 'मैं' हूँ। शब्दका धुआँ सत्यकी अग्नि प्रकट नहीं होने देता और हम अपने वस्त्रोंको ही जानते-जानते मिट जाते हैं। हम उससे नहीं मिल पाते जिसके कि वस्त्र थे और जो वस्त्रोंमें था, लेकिन केवल वस्त्र नहीं था।

मैं भीतर देखता हूँ। वहाँ शब्द ही शब्द दिखायी देते हैं। विचार, स्मृतियाँ, कल्पनाएँ और स्वप्न—सब शब्द ही हैं और मैं शब्दोंके घेरोंमें वन्द हूँ। क्या मैं इन विचारोंपर ही समाप्त हूँ या इनसे भिन्न और अतीत भी मुझमें कुछ है ? इस प्रश्नके उत्तरपर ही सब कुछ निर्भर है। उत्तर विचारसे आया तो मनुष्य धर्म तक नहीं पहुँच पाता, क्योंकि विचारकी सीमा विचार है। उसके पारकी गंध भी उसे नहीं मिल सकती है।

साधारणतः लोग विचारसे ही वापस लौट आते हैं। वह अदृश्य दीवार उन्हें वापस कर देती है। जैसे कोई कुआँ खोदने जाये और कंकड़-पत्थरको पाकर निराश हो रुक जाये, वैसा ही स्वयंकी खुदाईमें भी हो जाता है। शब्दोंके कंकड़-पत्थर ही पहले मिलते हैं और यह स्वाभाविक ही है। वे ही हमारी बाहरी परतें हैं। जीवन-यात्रामें उनकी ही धूल हमारा आवरण बन गयी है।

आत्माको पानेके लिए सारे आवरण चीर देना जरूरी है। वस्त्रोंके पार जो नग्न सत्य है, उसपर ही रुकना है। शब्दको उस समय तक खोदे चलना है जब तक कि निःशब्दका जलस्रोत उपलब्ध न हो जाये। विचारकी धूलको हटाना है, जब तक कि मौनका दर्पण हाथ न आ जाये। यह खुदाई कठिन है। यह वस्त्रोंको उतारना ही नहीं है, अपनी चमड़ीको उतारना है। यही तप है। प्याजकी तरह अपनेको छीलना है। प्याजमें तो अंतमें कुछ भी नहीं बचता है, अपनेमें सब कुछ बच रहता है। सब छीलनेपर जो बच रहता है वही वास्तविक है। वही मेरी प्रामाणिक सत्ता है। वही मेरी आत्मा है।

एक-एक विचारको उठाकर दूर रखते जाना है और जानना है कि यह मैं नहीं हूँ। इस भाँति गहरे प्रवेश करना है। शुभ या अशुभको नहीं चुनना है। ऐसा चुनाव वैचारिक ही है और विचारके पार नहीं ले जाता। यहीं नीति और धर्म अलग रास्तोंके लिए हो जाते हैं। नीति अशुभ विचारोंके विरोधमें शुभ विचारोंका चुनाव है। धर्म चुनाव नहीं है। वह तो उसे जानना है जो कि सब चुनाव करता है। यह जानना भी तब हो सकता है जब चुनावका सब चुनाव-शून्य हो और केवल वही शेष रह जाये जो कि हमारा चुनाव नहीं है वरन् हम स्वयं हैं।

विचारके तटस्थ, चुनाव-शून्य निरीक्षणसे विचार-शून्यता आती है। विचार नहीं रह जाते, केवल विवेक रह जाता है। विषय-वस्तु नहीं होती, चैतन्य-मात्र रह जाता है। इसी क्षणमें प्रसुप्त प्रज्ञाका विस्फोट होता है और धर्मके द्वार खुल जाते हैं। इसी उद्घाटनके लिए मैं सबको आमंत्रित करता हूँ। शास्त्र जो तुम्हें नहीं दे सके वह स्वयं तुम्हींमें है। और तुम्हें जो कोई नहीं दे सकता, उसे तुम अभी और इसी क्षण पा सकते हो। शब्दको छोड़ते ही सत्य उपलब्ध होता है।
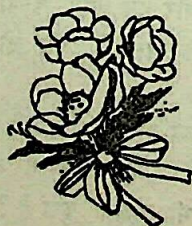
प्रत्येक युगमें लोकमङ्गलके मूल आधार

सदाचार और सद्विचार

श्रीबाबूलाल "श्रीमयंक"

★

आजके युगकी अनीतिकी काली घटाओंको देखते हुए मनुष्य इसके सुधारमें सहयोग दे या न दे, ईश्वरीय विधानसे जो होनेका है वह होकर ही रहेगा। पतनकी चरमावस्था ही उत्थानकी अवस्था बन जाती है। हम देखते हैं कि दुर्योधनकी दुष्टता जब सीमा पार कर गयी तब विवश होकर न्यायोचित पाण्डवोंको अन्यायके विरुद्ध शस्त्र उठाना पड़ा। यह शास्त्रसम्मत बात है कि अनीतिके विरुद्ध नीतिके सारे साधन विफल हो जायँ तो शस्त्र उठाना औचित्य है। आज शस्त्र उठाना तो दूर रहा, प्रत्येक प्राणी इस युग-प्रवाहमें बड़े आनन्दके साथ जीवन-नौकाको खेता जा रहा है।

युगकी माँग है कि हम अनीतिके विरुद्ध शस्त्र उठायें। यद्यपि आज रण-कौशलका जमाना नहीं है। सभी कर्त्तव्यच्युत अधिकारोंकी लिप्सामें आन्दोलन, अनशन, हड़ताल, काम बन्द करो और अनीतिका मुकाबला, तोड़-फोड़, आगजनीके रूपमें होता है। अनीतिका विरोध उचित हो सकता है, किन्तु राष्ट्रकी सम्पत्तिको क्षति पहुँचाकर या हिंसात्मक कार्य करके तो सद्भावना नहीं जगायी जा सकती। अत्याचारों द्वारा दूसरेके मनोभावोंको बदलना या अधिकार प्राप्त करना निरी मूर्खता है। इस प्रकार अनीतिका मुकाबला करना अपरिहार्य रूपसे प्रतिशोधको प्रोत्साहित करना है क्योंकि प्रतिशोधकी ज्वालामें मनुष्य कट्टर प्रतिशोधी बनता है। अनीतिसे मुकाबला करनेका, मूलसे समाप्त करनेका एकमात्र उचित तरीका सदाचार और सद्विचार है। इसपर विजय पानेका यही एक उत्तम राज-मार्ग है।

बाह्य स्थितिमें अनीतिका मुकाबला करते हुये आन्तरिकतासे सद्भाव त्यागना उचित नहीं है। सद्भाव, सदाचार और सद्विचारका अंगरक्षक है। भीष्म लड़ते हुये भी प्रतिद्वन्दीके प्रति सद्भाव रखते थे। अपने सदाचार, सद्विचारसे मृत्युपर्यन्त दोनों पक्षोंको बराबर लाभ पहुंचाते रहे।

आज मुख्य रूपसे विचार-शस्त्रकी जरूरत है। यह आन्तरिक जगत्का सूक्ष्म प्रबल वेगवान् शस्त्र है। विचारोंसे दुनियाका सबसे बड़ा परिवर्तन हुआ। कई युग, संस्कृतियाँ और सभ्यताएँ बदलीं। बड़ी-बड़ी सल्तनतें पलट गयीं। बाह्य-जगत्का शस्त्र सदाचार है।

जिसके आचरण सात्त्विक होते हैं उसका प्रभाव दूरगामी, अधिक स्थायी रहता है। जिसमें ये दोनों विशेषताएँ होती हैं वे पूर्णतः मानवताके अधिकारी होते हैं। बहुधा युगपरिवर्तनका सेहरा उन्हींके सिर बँधता है। बुद्धने, शंकराचार्यने अपने विचारोंसे सारे भारतकी कायापलट कर दी। राम और कृष्णने अपने आचरणोंसे तुच्छ कणोंके संघातसे विशाल सेनाका निर्माण किया। रावण, कंस जैसे महादुष्टों पर विजय पायी। आचरणसे अन्तःप्रदेशमें दिव्य चेतनाका संचार होता है।

महापुरुषोंके विचारसे, समाचारपत्रोंकी खबरसे, महान् राजनीतिज्ञोंके कथनसे और आध्यात्मिक संतोंके अनुभवसे यही जाहिर होता है कि सदाचार और सद्विचारके रूपमें यह शक्ति बहुत कम बची है। लंका-बिजयके लिए रामके पास भौतिक शक्ति नगण्य थी किन्तु राममें सद्विचार, सदाचारकी शक्ति भरपूर थी। उसीके माध्यमसे साधारण प्राणियोंमें वह शक्ति सञ्चरित हुई और दुर्जनता जैसी महाशक्तियोंसे लोहा लिया। उसी रूपमें इस शक्तिकी महती आवश्यकता है।

कुछ भी हो, हम बड़े विश्वाससे कह सकते हैं कि यही शक्ति आज सूक्ष्म-जगत्में विचरण कर रही है तथा अपनी उद्देश्य पूर्तिमें संलग्न है। वह कभी-कभी रामकृष्ण परमहंस, योगी अरविन्द, बुद्ध, दयानन्दके रूपमें प्रकट होकर भौतिक जगत्में उथल-पुथल करती रही। आजका अज्ञानग्रस्त मानव विश्वास करे या न करे इसकी कोई चिन्ता नहीं, किन्तु दैवी विधानसे इस नवीन महाभारतका अन्त करने और म्लेच्छसंस्कृतिको मिटाकर ऋषियोंकी पावन ऋचाएँ गुंजित करनेके लिए शुद्ध संस्कृतिकी स्थापना हेतु इस शक्तिका आविर्भाव होगा। आजके अनुभवी तत्त्वदर्शी संत और नैतिक, धार्मिक पत्रिकाएँ इस बात पर सतत जोर दे रही हैं कि मनुष्य आनेवाले क्रूर युगके प्रति सजग रहे। अपने स्वभाव और सदाचारको बदले।

इसका तात्पर्य यह नहीं होगा कि जब यह कार्य होनेका है तो क्यों न जिन्दगीके चन्द दिन मौज-शौकसे गुजार लें। ऐसा सोचनेवाले भूल करते हैं। उन्हें यह चार्वाक सिद्धान्त छोड़ना होगा। चाहे सदाचार और सद्विचारकी शक्ति कम रहे, वह तो अपना काम करेगी ही तथा पाप भी स्वयं अपने आप मर जायगा। लेकिन एक बात ध्यान रखनेकी है कि जब यह पाप मरता है तो अपने भीषण परिवर्तनोंके साथ कई निर्दोषोंको लेकर मरता है। ऐसी स्थितिमें चाहे अच्छा हो या बुरा, दोनोंके ही नष्ट होनेकी पूरी सम्भावना रहती है। इन परिवर्तनोंके संकेतोंके रूपमें कई आश्चर्यजनक घटनाएँ और भविष्यवाणियाँ हो रही हैं। जो कभी देखने-सुननेमें नहीं आयी हैं। अन्नका इतना उत्पादन होनेपर भी उसकी समस्या हल नहीं हो रही है। आबादी तीव्रतासे बढ़ती जा रही है। अनैतिकताका बाजार गर्म है, संयमका अभाव है। समझौतेके सभी साधन विफल होते जा रहे हैं।

यदि यही स्थिति रही तो निश्चित है कि स्वार्थके कारण विश्वकी बड़ी-बड़ी शक्तियाँ आपसमें टकरायेंगी। यह वही संकट लायेंगी जैसा कि महाभारत कालमें हुआ था। इस संकटको मिटाने हेतु वह शक्ति अवश्य प्रकट होगी जो सदाचार और सद्विचारसे युक्त होगी।

अन्यायके विरुद्ध शस्त्र भी उठायेगी। इस धरतीपर पुनः नये सिरेसे नयी व्यवस्थाकी स्थापना करेगी।

ऐसी स्थितिमें हमारा कर्तव्य है कि हम अपने पवित्र आचरणोंसे, सात्त्विक विचारोंसे ऐसा वातावरण तैयार करें जिसमें वे महान् आत्माएँ अवतरित हो सकें और जनजीवनमें ऐसे समझौते की पद्धति अपनाएँ, जिनसे उनके मनोभाव वदलें तथा एक संघ होकर इस विषम स्थितिका मुकावला कर सकें। नये युगके महान् प्रयोजनको पूरा कर सकें। इस रामकी सेनामें अधिक नहीं तो गिलहरी जैसा भी सहयोग देकर पुण्यके भागी वनें। इसका उपाय होगा अपना रूपान्तर करना सदाचार और सद्विचारके माध्यमसे। इन्हीं दिव्यशस्त्रोंको लेकर आनेवाले महाभारतके युद्धमें शरीक होना है और महाकालके महान् प्रत्यावर्तनको पूरा करना है।

अगर हम अपना ही राग अलापते रहे, लकीरके फकीर बने रहे, स्वार्थ साधनोंमें संलग्न रहे और अनीतियोंको प्रोत्साहित कर युग-प्रवाहमें बहते रहे तो याद रखें इस युद्धके प्रथम जिम्मेवार हम ही ठहराये जायँगे और हो सकता है कि हमें इसमें बहुत बड़ी हानि उठानी पड़े। इन परिवर्तनोंमें कितनी ही संस्कृतियाँ, प्राचीन सभ्यताएँ नष्ट हो चुकी हैं। हमारा कितना ही ज्ञान कालके गालमें समा गया है। ये सब फूट और अनीतियोंके कारण, सदाचार और सद्विचारके अभावमें हुआ है। भारतवासियोंको तो इसके महत्त्वको समझना चाहिए तथा योगदान देना चाहिए। भारतके प्रत्येक नागरिकका कर्त्तव्य है कि वह अपने पुरातन जगद्गुरुत्वके महत्त्वको समझे और पुनः उसी भूमिकाका निर्वाह बड़े गौरवके साथ करे।

जगपति विहरत......

सुभग सुमन सम सरसित सुखमित,
चलित वलित नवछद चलदल में।
अलिकुल कलकल किलकिल कवलित,
तरुण अरुण कल अमल कमल में॥
वकुल बसित विकसित बकुचन विच,
बजत विगुल बक दल कलबल में।
सुरति सुमतिधर कुमतिन छयकर,
जगपति विहरत नित जल थल में॥

—श्रीशिवकुमार मिश्र 'मयूर'

क्या आज का मानव मानवताकी ओर बढ़ रहा है ?

मानवता

श्री विश्वबन्धु

★

मानव शब्दके आगे भाववाचक 'ता' प्रत्यय जुड़नेसे यौगिक शब्द मानवता बनता है। इसलिए मानवताका साधारण अर्थ है मनुष्यत्व। अतः मानवता वह धर्म है जो एकमात्र मनुष्यमें ही रहता है और जिसके विद्यमान रहनेके कारण ही मनुष्य सचमुच मनुष्य कहा जा सकता है।

जो ज्ञानपूर्वक (मनन करनेके पश्चात्) कार्य करे वे मनुष्य कहे जाते हैं। मनन करनेपर मनमें जब सात्त्विक भावोंका प्राकट्य होने लगे और मन उन्हें बुद्धिके सहयोगसे सहानुभूतिपूर्वक अंगीकार कर ले तब मानवताका आविर्भाव होता है। अतः जब मनमें सात्त्विक भावोंका समावेश होता हैं तब मानवताका जन्म होता है। सात्त्विकभाव या धर्म अनेक हो सकते हैं परन्तु सहृदयता, सामञ्जस्य और अद्वेष केवल इन तीन धर्मोंका ही समावेश यदि मनमें हो सके तो वह मनुष्य या मानव बन सकता है। मनुष्यके इन तीन स्वाभाविक गुणोंकी ओर गीतामें संकेत करते हुए कहा गया है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

अर्थात् मनुष्य वह है जो प्राणीमात्रसे द्वेष न रखता हो, सबके साथ मैत्रीभाव रखता हो और करुणाकी भावनासे ओत-प्रोत सहानुभूति या सहृदयताका द्योतक हो।

इन्हीं सद्गुणोंका उद्रेक मानवको पशुकोटिसे अलग कर देता है और उसे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करता है। मनुष्यताकी श्रेष्ठताके कारण ही मनुष्यको ईश्वरकी सृष्टिमें सर्वश्रेष्ठत्वकी उपाधिसे विभूषित किया गया। श्रीमद्भागवतमें एक बड़ा ही सुन्दर श्लोक इस विषयमें आया है—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥

(श्रीमद्भागवत ११।९।२८)

अर्थात् भगवान्‌ने अपनी अचिन्त्य शक्ति महामायासे वृक्ष सरीसृप (पेटके बल रेंगने-वाले सर्पादि जन्तु) पशु-पक्षी और मत्स्य (मछली) आदि अनेकों प्रकारकी योनियाँ रचीं। परन्तु इनसे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। इस प्रकार असंतुष्ट-हृदय विधाताने मानव-शरीरकी रचना करके अपने हृदयमें सन्तोषका अनुभव किया।

इसमें मनुष्यकी विशिष्टताका सूचक 'ब्रह्मावलोकधिषणम्' विशेषण मार्मिक है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यके पास ऐसी बुद्धि (धिषणा) है जिसके द्वारा वह ब्रह्मका साक्षात्कार कर सकता है। मनुष्योंका पशुओंसे विभेद करनेवाला यह बहुत ही सुन्दर विशेषण है। अतः स्पष्ट है कि मानव-जीवनका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही है, विषय-भोग नहीं। क्योंकि केवल शरीरकी प्राप्ति तो प्रत्येक जन्म या योनिमें है तब मानव-शरीरका वैशिष्ट्य ही क्या रहा ?

परन्तु आजका मानव अशान्त कस्तूरीके मृगकी भाँति विषय-वासनारूपी रेगिस्तानमें सुखरूपी जल तलाशता फिरता है। 'अनित्यमसुखं लोकमिमम्' अर्थात् यह लोक अनित्य, असुखकारी और दुःखपूर्ण है। इसमें नित्यानन्दस्वरूपकी प्राप्ति ही अपना चरम लक्ष्य होना चाहिए। तभी मानवताकी सार्थकता संभव है। भगवद्विषयक बुद्धिमें भेद या अलगावकी भावना रहती ही नहीं। तब परस्पर प्रेम एवं सौहार्द्र या मैत्री होना स्वाभाविक है। यही मानवताका मूल रूप है।

आजका मानव कहनेको तो मानव ही है, परन्तु वह मानवताकी कसौटीपर खरा नहीं उतरता। वह चाँद या सितारोंके लोककी चाहे कितनी ही डींग हाँके। अन्तरिक्षमें चाहे जितनी उड़ान भरे या सागरके वक्षस्थलपर चाहे जितनी ही भारी भरकम पोत दौड़ाये, परन्तु जबतक उसमें सौहार्द्र एवं विश्व-मानव-प्रेम नहीं है, वह मानव कहलानेका अधिकारी ही नहीं। एक उर्दूके शायरने कहा है कि—

हमने माना शेखजी फरिश्ते हैं मगर दुश्वार है इन्सान होना।

तात्पर्य यह है कि इस संसारमें मानवता एक दुर्लभ वस्तु है और उसका आधार है भगवद्विषयक रति एवं सम्यक् धर्माचरण। मनुके बताये हुए दसधर्मोंके लक्षणोंको मानव जबतक अंगीकार नहीं करता तबतक वह **'मन एवत्यं पुमान् मानवः'** कहलानेका अधिकारी नहीं। मनुके बताये दस धर्म इस प्रकार हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

आज सबकुछ इससे विपरीत हो रहा है। फैशन एवं शौक-मौजके साधन जुटानेमें ही मानवकी सारी शक्ति रत है उसे अपने मानव-लक्ष्यका ध्यान ही नहीं। वह धनवान् एवं सर्वसाधनोंसे सम्पन्न होते हुए भी लोभ और तृष्णाके कारण शान्ति-लाभ नहीं कर पा रहा है। इसका कारण मानवतासे अलगाव ही है। एक कविने आजके समाजका चित्र निम्न पद्यमें कितना सुन्दर खींचा है—

नैतिकता नाता तोड़ भागी है न जाने कहाँ,
'मानवता' हाय! आज फूट-फूट रोती है।
धर्मका तो नाम लेते धरणी धसकती है,
अनघा अहिंसा वेदनाके बीज बोती है॥

सत्यके शरीरपर कुठार चलता है क्रूर,
नीति अनरीतिसे विकल बड़ी होती है।
भारती पुकारती है, सुनता है कौन भला,
होकर अधीर आँसुओं से मुँह धोती है॥

यद्यपि समस्त संसारमें 'मानव-मानव एक समान'का नारा गूँजता हुआ प्रतीत होता है, तथापि उसमें हम नहीं हैं, क्योंकि भाई भाईको नहीं देख सकता, एक पड़ोसी दूसरेके दुःखदर्दको सुननेके लिए तैयार नहीं; बाप बेटेमें विचार एक नहीं, पतिपत्नीमें एकत्वकी भावना नहीं, तब विश्व-मानवताका ढोल पीटना बिलकुल व्यर्थ है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'की भावना तभी पनप सकती है जब उसमें क्रमशः विकास आये। उसके लिए भारतीय वर्णाश्रमधर्मका आचरण ही एकमात्र उपाय है। परदोष, परनिन्दासे मन हटाकर परहित और मानव-प्रेमका पाठ ही उसे सच्चा मानव बना सकेगा। यह सब सम्भव है शुद्ध भावनासे जब उसके मनमें यह बात घर करेगी तभी वह दीन दुखियोंके आर्तस्वरको अपना कष्ट समझ सकता है। दूसरोंको भूखा देखकर वह रन्तिदेव बन सकता है, दूसरोंके संकट निवारणके लिए वह दधीचिवत् अस्थिदान कर सकता है। तब होता है मानवताका पूर्ण विकास। स्व० मैथिलीशरणजी गुप्तने मनुष्य कौन है ? इसको बताते हुए मानवताकी व्याख्या कितने सुन्दर शब्दोंमें की है—

मनुष्यमात्र बन्धु हैं यही बड़ा विवेक है।
पुराण-पुरुष स्वयंभू पिता प्रसिद्ध एक है॥
फलानुसार कर्मके अवश्य बाह्य भेद हैं।
परन्तु अन्तरंगमें प्रमाणभूत वेद हैं॥
अनर्थ है कि बन्धुहीन बन्धुकी व्यथा हरे।
वही मनुष्य है कि जो मनुष्यके लिए मरे॥

●

सच्चा राष्ट्र-भक्त

हिन्दुस्तानका प्रत्येक नागरिक हिन्दू है। जिसे अपने इस हिन्दुत्वपर गर्व है; तथा जो इस देशको मातृभूमि और पितृभूमि मानकर इसके प्रति अविचल निष्ठा रखता है। वही सच्चा राष्ट्र-भक्त है। राष्ट्र-भक्ति राष्ट्रके लिए त्यागपर प्रतिष्ठित है; अधिकार-लिप्सापर नहीं।

एक सामयिक विचार

नयी स्थापनाओंकी आधारभूमि

व्रजवल्लभ द्विवेदी 'औदवाहि'

*

श्रीकृष्ण-सन्देशके पाँचवें वर्षके प्रथम अंकमें "पुरानी मान्यताएँ नई स्थापनाएँ" शीर्षक विचारोत्तेजक लेख पढ़नेको मिला। इसमें हिन्दू-समाजकी कुछ सामायिक समस्याओंकी ओर पाठकोंका ध्यान आकृष्ट किया गया है। इस विषयपर हमारी भी कुछ लिखनेकी इच्छा हो रही है।

तमिलनाडु और महाराष्ट्रके भूतपूर्व राज्यपाल श्री श्रीप्रकाशजी चतुर राजनीतिज्ञ एवं गंभीर विचारक हैं। उनका कहना है कि निकट भविष्यमें हिन्दू जाति और संस्कृतिकी वही दशा हो जायगी, जो कि कभी मिश्र, यूनान, रोम और पारसीक देश तथा वहाँ की संस्कृतिकी हुई थी। इस सामयिक और गंभीर चेतावनीकी ओर भारतीय मनीषीवर्ग और आस्तिक जनताको अविलंब ध्यान देना चाहिए। जिस जाति धर्मने परतन्त्रता कालके संघर्षमय एक हजार वर्षोंमें अपनेको नहीं मिटने दिया, उसके सामने आज विषम परिस्थिति उपस्थित है। अहंकार अथवा प्रमादवश इसको टाल देनेका अब समय नहीं रह गया है। साहस और बुद्धिमत्ताके साथ इसका अविलंब सामना किया जाना चाहिए।

भारतीय राष्ट्रीयता आज विघटनकी ओर बढ़ रही है। देशमें धर्म-निरपेक्ष जनतन्त्र प्रणालीका शासन है। किन्तु समाज धर्म, जाति, भाषा और प्रान्तीयता आदिकी भाँति-भाँतिकी व्याधियोंसे ग्रस्त है। भारतीय राष्ट्रीयता और संस्कृतिका न तो विकास हो रहा है और न इस ओर कोई ध्यान ही दे रहा है। जनतन्त्रमें बहुमतका महत्त्व है। विभिन्न मतवादोंके आधारपर संघटित राजनीतिक दल आज अपना बहुमत बनानेके चक्करमें एक राष्ट्रीयता अथवा संस्कृतिके आधारभूत तत्त्वोंकी भी उपेक्षा करनेमें संकोच अनुभव नहीं करते। इसी देशका एक अंग अब पाकिस्तानके नामसे इससे अलग होकर हिन्दू राष्ट्रको चुनौती देता और इसे आत्मसात् करनेके लिए मुहम्मद गोरीके आक्रमणोंसे प्रेरणा ले रहा है। वहाँके

शासकोंका यह दृढ़ विश्वास है कि भारतकी विविधता तथा फूटके कारण कभी न कभी हम अवश्य ही पूरे देशपर अपना वर्चस्व उसी प्रकार स्थापित करनेमें समर्थ होंगे, जैसे कि एक हजार वर्ष पूर्व इस्लामके अनुयायियोंने इस देशपर किया था। पाकिस्तानसे सहानुभूति रखने वालोंकी भी संख्या यहाँ कम नहीं है। कुछ ऐसे भी दल हैं, जो कि रूस अथवा चीनसे आदेश प्राप्त करते हैं। अंग्रेजी भाषा और संस्कृति एवं अंग्रेजियतके साथ अमेरिकन पद्धतिका अनुकरण करने वालोंका एक बड़ा वर्ग यहाँ अभी भी कार्यरत है। यह है देशकी आज आशंकाओंसे भरी भयावह परिस्थिति। विघटनकारी प्रवृत्तियाँ तीव्रतासे कार्यरत हैं। हमारी दृष्टिमें आजकी दूषित राजनीतिमें इसका कोई समाधान नहीं मिल सकता। इस समस्याके ससाधानके लिए हमें सांस्कृतिक धरातलपर ही आगे बढ़ना होगा।

हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि धर्म तो इसी धराकी उपज हैं। ईशामसीहकी मृत्युके बाद प्राचीन यहूदी-धर्मके अनुयायियोंने यहाँ शरण ली थी। वैदिक धर्मके सहोदर जरथुष्ट्र धर्मके अनुयायी इस्लामसे प्रताडित होकर यहाँ शरण लेने आये। पारसियोंका बहुत बड़ा समुदाय आज भी उसी प्रकार अपने धर्म और संस्कृतिका पालन करता आ रहा है, जैसे कि कभी वह अपने मूल देश ईरानमें करता था। आज ईरान इस्लामी धर्मसे पूरी तरह आक्रान्त है, किन्तु भारतमें वहाँका प्राचीन धर्म, साहित्य और उसके अनुयायी पूरी तरह सुरक्षित हैं। यूरोपियन आक्रान्ताओंके साथ खीष्ट धर्म यहाँ आया, यह तो हालकी बात है। शताब्दियों पूर्व भी विजातीय व्यक्तियोंसे प्रताडित होकर खीष्ट मत यहाँ आया था और केरलमें आज भी उस संप्रदायके अनुयायी शान्तिपूर्वक निवास कर रहे हैं। चीनी तानाशाहोंसे पराभूत होकर तिब्बती जन और वहाँकी संस्कृति यहाँ स्वतन्त्र रूपसे फल-फूल रही है, यह घटना तो अभी हालकी है। इनके अतिरिक्त विजेताके धर्मके रूपमें कभी यहाँ इस्लाम और खीष्ट धर्मका प्रवेश हुआ था। इस प्रकार यह पूरा देश विविध धर्मों और संस्कृतियोंका एक अजायबघर-सा हो गया है। इतिहासके आरंभकालसे ही यह राष्ट्र सही अर्थोंमें धर्म-निरपेक्ष रहा है। इसीलिए यहाँ विभिन्न विचार-धाराओंका समय-समयपर संरक्षण और संगमन होता रहा है। इसके मूलमें कौन-सी सत्प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही थीं, इस पर हमको गंभीरतासे विचार करना चाहिए। इसीमें आजकी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक समस्याओंका समाधान खोजा जा सकता है।

हमारे मतसे यह राष्ट्र त्याग, तपस्या, सहिष्णुता और समन्वयके चार मजबूत पायोंपर इतिहासके आरंभिक कालसे ही खड़ा हो गया था। यदि आज भारत राष्ट्र और भारतीय संस्कृतिको जीवित रखना है तो इन्हीं मूल मान्यताओंके आधारपर नवीन स्थापनाएँ करनी होंगी। पुरातन और नूतनके युक्तियुक्त समन्वयसे ही हम आजकी समस्याओंका समाधान कर सकते हैं, एक सर्वांगपूर्ण भारतीय संस्कृतिकी नींव डाल सकते हैं।

भारतको एक सुदृढ़ और सबल राष्ट्र बनानेके लिए आज इसमें बसनेवाले सभी धर्मों और वर्गोंके अनुयायियोंमें सहिष्णुता और समन्वयकी भावनाकी नितान्त आवश्यकता है। हिन्दू जातिमें ये गुण जन्म-जात हैं। किन्तु आजकल धर्मों और वर्गोंमें असहिष्णुता बढ़ रही है। समन्वयके स्थानपर अलग-अलग धर्म और वर्ग अपनी वरीयता स्थापित करनेमें लगे हैं।

तथाकथित प्रगतिशील वर्ग और बौद्ध-धर्मके अनुयायी समन्वयके आधारपर स्थापित हो सकनेवाली भारतीय संस्कृतिका मखौल उड़ाते हैं। उनके मनसे बौद्ध-धर्मके आधारपर ही नवीन भारतीय संस्कृतिका निर्माण हो सकता है। इसके लिए वे कार्यरत भी हैं। इस प्रकारके लोगोंको भारतीय संस्कृतिसे अधिक विश्व-संस्कृतिकी चिन्ता है। भारतके दिवंगत प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरूको इनका प्रथम प्रवक्ता कहा जा सकता है। नेहरूजीके पंचशीलकी उनके जीवनकालमें ही दुर्गति हो चुकी है। उनकी विश्व-संस्कृति और अन्तरराष्ट्रीयताकी बलिवेदीपर तिब्बत और कश्मीर चढ़ाये जा चुके हैं। स्वर्गीय सरदार पटेलकी दृढ़तासे हैदराबाद और जूनागढ़ बचाया जा सका और स्वर्गीय पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्तने एक समय हरिजनों और दलित वर्गोंमें दावानलके समान फैल रही बौद्ध-दीक्षाकी बाढ़को अपने दृढ़ निश्चयसे रोका है। बौद्ध-धर्म इसी धरतीकी उपज है। उससे किसीको द्वेष नहीं हो सकता। उसके कारण अनेक उत्कृष्ट गुणोंका समावेश भारतीय संस्कृतिमें हुआ है। किन्तु आज वह भारतके लिए हिंसा प्रधान वैदिक कर्मकाण्डके समान ही भूतकी वस्तु है। मोक्कोंसे लेकर इंडोनेशिया तक हिन्दू धर्मसे अतिरिक्त कोई भी धर्म कहीं भी इस्लामके सामने टिक नहीं सका। इस बातका इतिहास साक्षी है कि भारतवर्षमें बचे हुए बौद्धोंने इस्लामके सामने आत्म-समर्पण कर दिया था। इसके विपरीत हिन्दू धर्मने उसके साथ संघर्ष किया, इस्लाममें सहिष्णुताका संचार किया और इन धर्मोंमें परस्पर समन्वयका भी प्रयत्न हुआ।

विश्व-संस्कृति और एक ही दुनियाकी भावना अच्छी है। अमेरिकाके स्वर्गीय राष्ट्रपति रुजवेल्टके भ्रमणशील दूत 'वेंडेल विल्की' ने एक पुस्तक लिखी थी, 'वन वर्ल्ड' (एक ही दुनिया)। संयुक्त राष्ट्रसंघ भी वर्षोंसे इस ओर कार्यरत हैं। भारतीय शास्त्र भी कहते हैं 'वसुधैव कुटुम्बकम्'। किन्तु आजकी दुनियाके लिए ये कोरे आदर्श-वाक्य हैं। आज पूरा विश्व विभिन्न गुटोंमें बँटा हुआ है। एक गुट दूसरेको निगल जाना चाहता है। ऐसी परिस्थितिमें अन्तर राष्ट्रीयताका व्यामोह क्या हमें मिटा नहीं देगा।

सभी छोटे बड़े राष्ट्रोंमें आज राष्ट्रीयताका जोर है। बड़े सबल राष्ट्र छोटे निर्बल राष्ट्रोंको निगल जाना चाहते हैं। रूस, चीन और अमेरिका आज अपनी-अपनी पद्धतिसे पूरी दुनियाको अपने अधीन करनेमें लगे हैं। इस संघर्षशील विश्वमें यदि एक स्वतन्त्र राष्ट्रके रूपमें हमें जीवित रहना है तो एक राष्ट्रीयता और संस्कृतिका विकास करना ही होगा। बाहरी राष्ट्रोंसे ही नहीं, इसके अभावमें हमको भीतरी संघर्षका भय भी बना रहेगा।

आज विभिन्न वर्ग और समुदाय अपना संख्याबल बढ़ानेमें संलग्न हैं। सन्तति-नियमनके कार्यक्रमको एक वर्ग अपने धर्मके विरुद्ध समझता है। आसाम, बिहार, मध्यप्रदेश आदि राज्योंकी जनजातियोंमें सेवाकार्यके बहाने ईसाई-मिशनरियाँ धर्म-परिवर्तनमें लगी हुई हैं। 'नागालैण्ड' नाम आज हमको किस दिशाकी ओर संकेत कर रहा है? ईसाई मिशनरियोंके समान ही कभी भारतीय प्रबुद्ध वर्ग भारतीय संस्कृति, धर्म और सभ्यताके शान्तिपूर्ण प्रसारके

लिए वाहर निकला था। आज वह अपनेमें ही सिमट रहा है। हिन्दू धर्मसे निकलनेके लिए आज अनेक मार्ग हैं, किन्तु उसमें प्रवेशके सभी द्वारा बन्द कर दिये गये हैं।

जो भी हिन्दुस्तानका नागरिक हो और इस देशके प्रति मातृ भूमि जैसी निष्ठा रखता हो, वह हिन्दू है, "अथवा जो कोई मनुष्य सच्चे हृदयसे अपनेको हिन्दू मानता हो, वह अपने ढंगसे हिन्दू समाजमें रह सकता है" यह एक समयानुकूल उचित दृष्टिकोण है। इसके साथ ही हमको यह भी सोचना है कि हिन्दू-समाजका ही अंग, असवर्ण नामसे कहा जानेवाला वर्ग आज हमारे साथ क्यों नहीं रहना चाहता? पारसियोंके धर्म-ग्रन्थ 'जेन्दावेस्ता'की इस गाथाको आप देखिये :—

> हावनिम् आ रतुम् आ हओमो उपैत् जरथुश्ट्रम्।
> आत्रम् पइरि-यओजदधन्तम् गाथास् च स्त्रावयन्तम्॥
> आ-दिम् परसत् (जरथुश्ट्रो) को नर अहि।
> यिम् अजम् वोस्पहे अंघमुस् अस्त्वतो स्त्रारशम् दादरस॥

थोड़ेसे वर्णोंमें नियम-बद्ध परिवर्तन कर देनेसे इसकी संस्कृत छाया इस प्रकार बनती है—

> सवनिम् आ ऋतुम् आ सोम उपैत् जरथुष्ट्रम्।
> अग्निं परि-योस्-दधन्तम् गाथाश्च श्रावयन्तम्॥
> आ तं पृच्छत् (जरथुष्ट्रः) को नर असि।
> यमहं विश्वस्य असोः अस्थिवतः श्रेष्ठं ददर्श॥

इसको ऋग्वेदकी भाषासे आप तुलना कीजिये। हमारी सहोदर संस्कृतिके अनुयायी ये पारसीक जन आज यहाँ पर हमारी अपेक्षा, जिन्होंने कि इनके धर्म और संस्कृतिको आज-तक सुरक्षित रहने दिया, इस्लामके साथ, जिनके अनुयायियोंने इनके धर्म और संस्कृतिको मूलदेशसे निष्कासित कर दिया, क्यों नजदीकीपनका अनुभव कर रहे हैं? हममें से वहुतसे लोग तो इनको मुसलमानोंका एक वर्गविशेष ही मानते हैं। भारत और पाकिस्तानके मुसलमानोंमें भी हमारे पुरखोंका ही तो रक्त प्रवाहित हो रहा है। आज भाई-भाईका मिलन क्यों नहीं हो रहा है। हिन्दू धर्मसे वाहर गया कोई भी व्यक्ति आज वापस आनेको तैयार नहीं है। प्रत्युत स्वतन्त्र भारतमें भी निकलने अथवा निकाल ले जानेके इस दुश्चक्र पर कोई अंकुश नहीं लगाया जा सका। ऐसा क्यों? हमको सच्चे मनसे आत्म-निरीक्षण करना होगा। इस सम्वन्धमें दूसरेको दोष देना आत्म-प्रवंचनामात्र होगी। उपनिषद्ने ठीक ही कहा है—"अन्धं तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जनाः।" आत्म-प्रवंचना एक प्रकारकी आत्म-हत्या ही है।

हिन्दू शब्दकी उक्त परिभाषाकी चरितार्थताके लिए हिन्दू धर्मको अपनी संकीर्णताका त्याग करना पड़ेगा, ऋषि-मुनियोंके प्राचीन त्याग और तपस्याके मार्गका एक बार फिर पूरी सचाईके साथ वरण करना पड़ेगा।

हिन्दू धर्मकी शौच, स्नान, आचार, खान-पानकी जटिल पद्धतिका पालन कर पाना साधारण जनके लिए कठिन होता जा रहा है। एक तरफ वह अन्य धर्मोंके धार्मिक क्रिया-काण्डकी सरलताको देखता है तो दूसरी ओर अपने धर्माचार्योंको देखता है कि उनकी कथनी और करनीमें अन्तर है। दिग्भ्रान्त हो वह भटक जाता है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" अथवा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" आज केवल पोथीकी वस्तु रह गयी है। "कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव" इस आभाणकके रचयिताने एक कटु सत्यका उन्मीलन किया है। आज अपने गलेमें नोटोंकी माला पड़ी देख संन्यासी पुलकित हो उठता है। पद-यात्रा और दो या तीन दिनसे अधिक एक स्थानपर टिककर न रहनेके नियमका पालन अल्पमात्रामें आज केवल जैन-मुनियोंमें ही देखनेको मिलता है। मठाधीश, मन्दिराधीश, मण्डलेश्वर और महामण्डलेश्वरोंका वैभव संन्यासी शब्दका उपहास करता प्रतीत होता है। संन्यासीके सामने आज "पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" यह उपनिषद्का आदर्श कहाँ है? वित्तैषणा और लोकैषणा तो आज गृहस्थसे अधिक संन्यासीके मनमें पैठ गयी है।

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥

मनुस्मृतिके इस उपदेशके अनुसार पाशुपताचार्योंने अपमानका आह्वान करनेके लिए क्राथन, स्पन्दन, मन्दन और शृंगारणका विधान किया था, आज लोकैषणा और वित्तैषणाकी पूर्तिके लिए ही सब कुछ किया जा रहा है। ब्राह्मण और संन्यासी बिना पैसा लिये आज न तो प्रवचन ही करना चाहता है और न कुछ लिखना ही चाहता है, जो कभी उसके कर्तव्य-कोटिमें आते थे। त्याग और तपस्यामय जीवनकी जिनसे सबसे अधिक आशा की जाती है, आज उससे वे बहुत दूर होते जा रहे हैं। आत्म-निरीक्षणकी भावना मर गयी है। किसी सूक्तिकारने ठीक ही कहा है :—

अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।

जब तक हममें निजी दोष-दर्शन अथवा दोष-श्रवणकी भावना न आवेगी, तब तक नवीन मान्यताओंकी स्थापना कैसे संभव होगी?

यह प्रसन्नताकी बात है कि भारत साधु-समाजका गठन धार्मिक संप्रदायके रूपमें न होकर समाज-सेवाके संस्थानके रूपमें हो रहा है। समाज-सेवाके लिए आज हमें नागाप्रदेश जैसे सीमावर्ती दुर्गम स्थलोंमें और भारतवर्ष भरमें बिखरी हुई, विदेशियोंके द्वारा पथभ्रष्ट की जा रही, जन-जातियोंमें जल्दी-से-जल्दी जानेकी जरूरत है। उनमें भारतीय सभ्यता और संस्कृतिका गौरव भरनेका यही समय है। राजनीतिका एक ही झोंका सवर्ण और असवर्णकी शब्दावलीसे विभक्त किये गये हिन्दू-समाजकी नाजुक कड़ियोंको कभी भी तोड़ सकता है। हमको अब उन्हें भी गले लगाना है, जो कि परिस्थिति अथवा बाध्यतावश हमसे बिछुड़ गये हैं। सभी धर्मोंमें विचारके धरातलपर समानताएँ हैं। उनका सूक्ष्म निरीक्षण करके

हमको एक समान जीवन-पद्धतिका उसी प्रकार विकास करना पड़ेगा, जैसा कि भगवान् शंकराचार्यने स्मार्त-धर्मके रूपमें वैदिक और अवैदिक धर्मोंका समन्वय किया था।

लोकसभाके भूतपूर्व अध्यक्ष स्वर्गीय मावलंकरने काशीकी एक जनसभामें कहा था कि काशी विश्वनाथके ज्ञानवापीके कूपमें कूद पड़नेको कल्पना परतन्त्रताकालकी ही उपज हो सकती है। ज्योतिर्लिंगमें-से अथवा चन्द्रमण्डलसे व्यक्तिविशेषके स्पर्शमात्रसे देवताके निकल जानेकी कल्पना उसी मनोवृत्तिकी ओर इंगित करता है। यह प्रसन्नताकी बात है कि आज का साधारण भारतीय नागरिक इसको माननेको तैयार नहीं है। स्वयं जो इन आस्थाओंसे अधिभूत हैं वे भी उससे आर्थिक लाभ तो उठाते हैं, किन्तु त्याग या कष्ट सहनकी जब घड़ियाँ आती हैं, तो वे पीछे के दरवाजेसे निकल जाते हैं।

कुछ त्यागी जन आजकी समस्याओंका समाधान राजनीतिमें खोजते हैं, किन्तु वर्षोंके कटु अनुभवोंने उनको बता दिया होगा कि इस मार्गके उनके सच्चे अनुयायियोंकी संख्या अत्यन्त ही सीमित है। चन्द्र-सूर्य-ग्रहण, कुम्भ आदि पर्वोंपर लाखोंकी संख्यामें एकत्र होनेवाली और धार्मिक प्रवचनोंमें हजारोंकी संख्यामें जुटनेवाली श्रद्धालु जनता आज राजनीतिमें धर्माचार्योंका साथ क्यों नहीं दे रही है? इसका कारण उनको जनतामें न खोजकर अपनेमें ही खोजना चाहिए।

हमारे मतसे यदि हमको हिन्दू-धर्मके प्राचीन रूपको भी बचाना है तो व्यक्तिगत धर्म और सामूहिक धर्मके बीच स्पष्ट सीमा-रेखा खींचनी होगी। सामूहिक धर्मके लिए आजकी परिस्थितिके परिप्रेक्ष्यमें नवीन मान्यताओंकी स्थापना करनी पड़ेगी। धर्मोंके बीच सहिष्णुता और समन्वयके माध्यमसे यह हो सकता है। हिन्दू-धर्माचार्य लोकैषणा और वित्तैषणासे दूर त्याग और तपस्याके सार्वभौम सिद्धान्तोंका अनुसरण करते हुए सांस्कृतिक धरातलपर नवीन सार्वभौम मान्यताओंकी स्थापनाका त्वरित यत्न नहीं करेंगे तो हिन्दू-जाति और भारतीय राष्ट्रका भविष्य अन्धकारमय हो जायगा। समन्वयाचार्य भगवान् श्रीकृष्ण समय रहते हममें नूतन आशा और कल्पना-शक्तिका संचार करें।

●

वेदमन्त्रोंमें श्रीकृष्ण-लीला

वनमाली शास्त्री चतुर्वेदी, साहित्याचार्य

★

वेद परब्रह्म परमात्माके निःश्वासरूप हैं और उसमें भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान सब स्थित है, जैसा कि कहा है :

भूतं भवद् भविष्यं च सर्वं वेदे प्रतिष्ठितम् ।

केवल इतना ही नहीं, स्पष्टरूप से श्रुति कहती है कि :

विष्णोर्वीर्याणि पश्यत ।

विष्णु—श्रीकृष्णके चरित्र (वेदमें) देखिये । इससे सिद्ध होता है कि—भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंका वेदमें वर्णन है ।

अतएव श्रीमद् राजाधिराज परमेश्वर वैदिकमार्गप्रवर्तक श्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्य-धुरन्धर श्रीसायणाचार्यकृत कर्मकाण्डात्मक व्याख्याके अतिरिक्त अन्य-भगवल्लीलापरक भी वेदमन्त्रोंकी व्याख्या पद-वाक्य-प्रमाण धुरन्धर, चतुर्धरवंशावतंस श्रीगोविन्दसूरितनय श्रीनील-कण्ठने की है ।

उदाहरणार्थ इस व्याख्या-सहित अभी दो मन्त्र पाठकोंके विनोदके लिए दिये जा रहे हैं । ग्वालवाल श्रीकृष्णसे माखनकी याचना करते हुए कहते हैं :

नवानो अग्न आभर स्तोतृभ्यः सुक्षिती रिषः ।
ते स्याम य आनृचु स्त्वा दूतासो दमे दम इषं स्तोतृभ्य आभर ॥

ऋग्वेद ३।८।२१।८

पदच्छेद—नवाः, नः, अग्ने, आभर, स्तोतृभ्यः, सुक्षितीः, इषः, ते, स्याम ये, आनृचुः, त्वादूतासः, दमे, दमे, इषं, स्तोतृभ्यः, आभर ।

अन्वयार्थ - हे अग्ने ! अग्नितुल्य तेजस्विन् ! स्तोतृभ्यः—स्तुतिकर्तृभ्यः, नः—अस्मभ्यं, नवाः—नूतनाः (क्षीरदधिमस्तुनवनीताद्यानि यज्ञेऽप्यप्राप्यानि) सुक्षितीः—कल्याणभूमीः,

(यद्भक्षणेनायुसत्ववलारोग्यादिकं भवति) इषः—अन्नानि, (खाद्यपदार्थानीत्यर्थः) आभर—आहर ।

कथमेतालभ्यन्ते इत्यत आहुः—ये गोपाः त्वां पुरा आनृचुः—स्तुतवन्तः, ते एव वयं दमे दमे—गृहे गृहे, त्वादूतासः—त्वद् दूताः, स्याम—भवेव (यस्य गृहे यद्यदस्ति तत् तुभ्यं निवेदयिष्यामः) । (दृढ़तायै पुनः कथ्यते) इषं—अन्नं, स्तोतृभ्यः, आभर ।

भाषार्थ—हे अग्निके समान तेजस्विन्—कृष्ण ! आपके गुण गानेवाले—प्रशंसक हम लोगोंको नवीन—दूध, दही, माखन, मलाई आदि वल-वीर्य तथा आरोग्य वढ़ानेवाले पदार्थ दीजिये ।

कदाचित् कहा जाय कि ये किस प्रकार मिल सकते हैं इसलिए कहा जाता है कि,

जिन्होंने तुम्हारी (पहले) स्तुति की थी वे ही हम लोग प्रत्येक घरमें तुम्हारे दूत होंगें । जिसके घरसे जो भी लेना होगा उसे आपको वता देंगे । दृढ़ताके लिए पुनः कहते हैं कि पूर्वोक्त खाद्य पदार्थ स्तुति करनेवाले हम लोगोंको दीजिये ।

इस प्रकार हित करनेवाले भी ग्वालवालोंको जव भगवान् प्रताड़ित करते हैं तव वे उपालंभ देते हुए श्रीकृष्णसे कहते हैं :

उभे सुश्चन्द सर्पिषो दुर्वी, श्रीणीष आसनि ।
उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषुः शवषस्पत इषं स्तोतृभ्यः आभर ॥

अ० ३।८।२३।९

पदच्छेद—उभे, सुश्चन्द, सर्पिषः, दर्वी, श्रीणीष, आसनि, उतो, नः, उत्, पुपूर्याः, उक्थेषु, शवषः, पते, इषं, स्तोतृभ्यः, आभर ।

अन्वयार्थ—हे सुश्चन्द ! सुतरामाल्हादक ! (त्वम्) उभे—द्वे, सर्पिषः—सर्पिः पूर्णे, दर्वी—दर्व्यौ, (स्वस्यैव) आसनि—मुखे, श्रीणीषे—मिश्रयसि (तत्वेकामपि वहुभ्योऽस्मभ्यं प्रयच्छसि, एवं मा कुर्वित्यर्थः) उतो—अपि च नः—अस्मान्, उत्पुपूर्याः—उत्कर्षेण पूरितवानसि, हविष्यैः, (पूर्वं) उकथेपु (तथेदानीमपि पूरयस्वेत्यर्थः) शवषः—वलस्य, पते—स्वामिन् ! इषं—खाद्यान्नं, स्तोतृभ्यः—स्तुतिकर्तृभ्यः, आभर—प्रयच्छ ।

भाषार्थ—हे अति आल्हादकारक कृष्ण ! तुम तो घृत—माखनभरी करछी अपने ही मुखमें डालते हो (हम लोगोंको नहीं देते हो) ऐसा मत करो । जैसे पहले हमको दिया करते थे वैसे ही अव भी दीजिये । हे वलके स्वामिन् ! स्तुति करनेवाले हम लोगोंको माखन दीजिये ।

कलियुग और हम

१

या कलियुग की देखी माया,
मानव जगती में भरमाया।
दुनियाँ के सब ताने बाने
अपना अपना ही पहचाने ॥

२

जब तक प्रेम प्रीति न होगी
पर जन पीड़ा दूर न होगी।
जब तक स्वार्थ बना रहेगा
मानव अपना भला करेगा ॥

३

पर पीड़ा पहचान न पाये
दूसर जन को फिर क्यों चाये।
मानव स्वार्थ को तुम छोड़ो
सत्य मार्ग से नाता जोड़ो ॥

४

तेरा जीवन पथ बन जाये
आने वाले उस पर जाये।
पर हितकारी जन कहलाये
जन-जन में 'प्यारा' हो जाये ॥

५

ऐसे जीवन को अपनाओ
सादा जीवन तन में लाओ।
पर की पीड़ा सदा मिटाओ
दीनबन्धु मानव कहलाओ ॥

—श्रीगेंदालाल 'आर्यबन्धु'

अवतार-कालिक परिस्थितिका चित्रण —

श्रीकृष्णके अवतरणकी पृष्ठभूमि

आचार्य श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

अखिलब्रह्माण्डनायक भगवान् विष्णुको धर्म अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि धर्मके पालनसे समस्त विश्वकी स्थिति सुव्यवस्थित बनी रहती है तथा सृष्टिचक्रके चलते रहनेमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। अतः इस धरातलमें जब-जब धर्मका ह्रास होने लगता है और अधर्मकी अभिवृद्धिसे असुरभावापन्न शक्तिशाली व्यक्ति धार्मिकोंपर अत्याचार करने लगता है तब-तब ईश्वर यहाँ अवतीर्ण हो अत्याचारियोंको दण्ड देकर धर्मकी धुराको सुव्यवस्थित कर देते हैं जिससे प्राणिमात्र सुखपूर्वक शाश्वत शान्तिका अनुभव करने लगता है।

द्वापर युगके अन्तमें अनेक अहंकारी दैत्योंने राजाओंका रूप धारणकर पृथ्वीको आक्रान्त कर दिया। असुरभावापन्न दुष्ट राजाओंके अत्याचारके भारसे पीड़ित पृथ्वी अत्यन्त दुखी हो गौका रूप धारण कर रोती हुई मेरुपर्वतपर ब्रह्माजीके पास पहुँची। वहाँ उसने अपना सारा कष्ट कह सुनाया। ब्रह्माजी बड़ी सहानुभूतिके साथ उसकी करुण कहानी सुनकर पृथ्वी और देवताओंको साथ ले क्षीरसागरके तट पर जाकर पुरुष-सूक्तसे सर्वान्तर्यामी परमात्माकी स्तुति करने लगे। स्तुति करते-करते जब वे समाधिस्थ हो गये तब उनके अन्तःकरणमें एक दिव्य वाणीका आभास हुआ जिसके आधारपर उन्होंने देवताओंको यह सन्देश दिया—

देवताओ! भगवान् पुरुषोत्तमको पृथ्वीका कष्ट पहले ही मालूम हो गया है। वे ईश्वरोंके ईश्वर हैं। अपनी कालशक्तिके द्वारा पृथ्वीका भार उतारनेके लिए वे व्रजमें जाकर जबतक लीला करें तबतक आपलोग भी यदुकुलमें अपने-अपने अंशोंसे जन्म ग्रहणकर उनका सहयोग करें—

पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम्।
स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद् भुवि॥

(श्रीमद्भागवत १०।१।२२)

पृथ्वीका भार हलका करनेके लिए वसुदेवकी पत्नी देवकी देवीके गर्भमें पहले शेषजी भगवान्‌के बड़े भाईके रूपमें आयेंगे। तत्पश्चात् स्वयं परमात्मा देवकीजीके गर्भमें अवतार लेंगे। और लीलाकार्य सम्पन्न करनेके निमित्त उनकी अनादि शक्ति योगमाया, जिसने समस्त संसारको मोहित कर रखा है—नन्दजीकी धर्मपत्नी यशोदाजीके गर्भसे कन्याके रूपमें उत्पन्न होगी।

इस प्रकार ब्रह्माजी देवताओंको सन्देश और पृथ्वीको सान्त्वना देकर अपने धामको चले गये। अनन्तर स्वर्गस्थ देवता तथा देवियोंने व्रजमें जाकर गोप एवं गोपियोंके रूपमें जन्म-ग्रहण कर लिया।

कुछ कालके बाद यदुकुलके आचार्य गर्गजीने उग्रसेनके दरबारमें उपस्थित होकर उनके छोटे भाई देवकसे कहा—राजन्! आपके आदेशानुसार मैंने कुछ दिनों तक अनेक स्थानोंमें भ्रमणकर बहुतसे वरोंको देखकर यह निश्चय किया है कि शूरसेनके पुत्र वसुदेवके अतिरिक्त आपकी सुलक्षणा कन्या देवकीके योग्य वर इस भूतलपर अन्य कोई नहीं है। इसलिए आप देवकीका शुभ विवाह वसुदेवजीके साथ कर दीजिए।

> **शौरिं विना भुवि नृपेषु वरस्तु नास्ति**
> **चिन्त्यो मया बहुदिनैः किल यत्र-तत्र।**
> **तस्मान्-नृदेव! वसुदेववराय देहि**
> **श्रीदेवकीं तव सुतां विधिनोद्वहस्व॥**

(गर्गसंहिता १।९।७)

गर्गजीका यह निश्चय सुनकर देवक बड़े ही प्रसन्न हुए और उन्होंने बड़े उत्साहके साथ अपनी प्रिय-पुत्री देवकीके विवाहकी तैयारियाँ कर दीं। अपनी पुत्रीपर देवकका बड़ा स्नेह था। विदाईके समय देवकीके साथ भेजनेके निमित्त उन्होंने भाँति-भाँतिके राजोचित उपहार प्रस्तुतकर रक्खे थे। वर-वधूके मंगलके लिए भाँति-भाँतिके बाजे बजने लगे। अनन्तर गर्गजीने शास्त्र-विधिसे यज्ञिय अग्नि प्रज्वलितकर राजकुमारी देवकीका शुभ विवाह-संस्कार नीतिज्ञ एवं बहुज्ञ वसुदेवजीके साथ कर दिया—

> **गर्गो यदुकुलाचार्यः सम्बन्धो वसुना सह।**
> **देवक्याः कारयामास विधिवच्च यथोचितम्॥**

(ब्रह्मवैवर्त श्रीकृष्णजन्मखण्ड ७।८)

वसुदेव अपनी नवपरिणीता पत्नी देवकीको अपने घर ले जानेके लिए उसके साथ रथपर सवार हुए। उस समय शंख, भेरी, मृदंग आदि बाजोंके साथ माङ्गलिक गान हो रहे थे। कंस अपनी चचेरी बहन देवकीकी प्रसन्नताके लिए स्वयं घोड़ोंकी लगाम पकड़कर हाँकने लगा। कुछ दूर जानेपर मार्गमें कंसको सम्बोधितकर यह आकाशवाणी हुई कि 'अरे मूर्ख! तू जिसका रथ हाँक रहा है उसी देवकीके गर्भसे उत्पन्न आठवाँ बालक तेरा काल होगा, वह तुझे मार डालेगा।'

पथि प्रग्रहिणं कंसमाभाष्याहाशरीरवाक्।
अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां वहसेऽबुध ॥

(श्रीमद्भागवत १०।१।३४)

यह सुनते ही कंस रथ रोककर हाथमें तलवार ले देवकीकी चोटी पकड़कर उसे मारनेके लिए उद्यत हो गया। यह देख नीतिज्ञ वसुदेवजीने उसे शान्त करते हुए कहा—'राजकुमार ! आपके गुणोंकी प्रशंसा तो बड़े-बड़े शूर-वीर भी किया करते हैं। आप भोजवंशके होनहार वंशधर हैं। एक तो यह स्त्री है, दूसरे वहन, तीसरे नवपरिणीता, अभी इसके हाथमें मंगलसूत्र वंधे हुए हैं। ऐसी परिस्थितिमें आप-जैसे दीनवत्सल व्यक्तिको स्त्री-वध करना सर्वथा अनुचित है—मनुजीने अनेक पापोंको वताकर कहा है कि 'एक गौके मारनेमें जितना पाप लगता है उससे दसगुना पाप एक ब्राह्मणके वधसे होता है। जितना पाप एक ब्राह्मणके वधमें होता है उतना ही पाप एक स्त्रीके वधमें है। और सौ स्त्रियोंके वधसे जितना पाप लगता है उतना ही पाप एक वहनके वधसे होता है।

गवां दशगुणं पापं ब्राह्मणस्य वधे भवेत्।
विप्रहत्यासमं पापं स्त्रीवधे लभते नरः ॥
विशेषतो हि भगिनी पोष्या या शरणागता।
स्त्रीहत्याशतपापश्च लभतेऽस्या वधे नृप ॥

(ब्रह्मवैवर्त ७।२५।२६)

'अतः हे कुलदीपक कंस ! आप इसे मारकर दुष्कीर्ति एवं नरकके भागी न वनें। इस अनित्य संसारमें जिसने जन्म लिया है, उसे मरना तो अवश्यंभावी है। आज मरे या सौ वर्षके वाद।'

इस प्रकार समझाने-बुझानेपर भी जव वह क्रूर कंस किसी प्रकार माननेको तैयार नहीं हुआ तव वसुदेवजीने पुनः कहा—'सौम्य ! घवड़ानेकी क्या आवश्यकता है ? आपको देवकीसे तो कोई भय है नहीं, भय है इसके आठवें पुत्रसे तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि इनके जितने पुत्र होंगे मैं लाकर उन्हें आपको समर्पित कर दूँगा।

वसुदेवजीकी यह प्रतिज्ञा सुनकर उनकी प्रशंसा करते हुए कंस देवकीको छोड़ अपने स्थान पर लौट आया। उधर वसुदेवजी भी देवकी देवीको लेकर अपने घर चले गये।

कुछ दिनोंके वाद देवकीके गर्भसे एक सुन्दर वालक उत्पन्न हुआ जिसे वसुदेवजीने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार कंसके सामने लाकर रख दिया। उसने उनकी सत्यतापर प्रसन्न होकर उस नवजात शिशुको यह कहते हुए लौटा दिया कि, 'आप इस सुकुमारको अपने घर ले जाइये। इससे मुझे कोई भय नहीं, तदनुसार वसुदेवजी वालकको लेकर अपने घर लौट आये।

इसी समय कंसके दरवारमें देवर्षि नारदजीका प्रवेश हुआ। उन्होंने पूछा—कंस ! आज तुम उदास क्यों दीख रहे हो?' यह सुन उसने सारी घटना कह सुनायी। इसपर नारदजीने वृत्ताकार रेखा खींचकर उसमें आठ दिशाओंमें एक-एक करके आठ निशान लगा दिये फिर

जहाँ कहींसे भी गिना, प्रत्येक चिह्न आठवाँ सिद्ध हो गया। इससे कंसको पूरा विश्वास हो गया कि यह प्रथम बालक भी मेरा काल हो सकता है—

सप्तवारप्रसंख्यानादष्टमाः सर्वं एव हि।
ते हन्तुः संख्ययायं चै अङ्कानां वामतो गतिः॥
(गर्गसंहिता १०।१०)

यह पाठ पढ़ाकर नारदजीके चले जानेपर क्रूर कंसने वसुदेवजीके उस प्रथम पुत्रको तत्काल मँगाकर मार डाला तथा वसुदेव और देवकीको हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़कर जेलमें बन्द-कर दिया। यह देख उग्रसेनने उसे मना किया, किन्तु उसकी परवाह न कर उन्हें भी राजगद्दीसे उतार स्वयं राजा बन बैठा और उन सबका विरोधी हो गया।

कंस एक तो स्वयं महाबली था, दूसरे उसके श्वसुर मगधनरेशसे उसको बड़ी सहायता मिलती थी, तीसरे उसके सहायक थे पूतना, तृणावर्त, केशी, धेनुक, अघासुर, बकासुर, भौमासुर, बाणासुर, द्विविद, मुष्टिक, चाणूर, शल, तोशल आदि बड़े-बड़े असुर भावापन्न वीर। इनकी सहायतासे उसने यादवोंको कष्ट देना आरम्भ कर दिया। बेचारे यदुवंशी इधर-उधर छिपकर अपना समय बिताने लगे—

ते पीडिता निविविशुः कुरुपञ्चालकेकयान्।
शाल्वान् विदर्भान् निषधान् विदेहान् कोसलानपि॥
(श्रीमद्भागवत १०।२।३)

यादवोंसे वैर करते हुए कंसने जब देवकीके छः पुत्र मार डाले तब सातवें गर्भमें भगवान् शेष अवतीर्ण हुए।

भगवान्‌के आदेशसे योगमाया द्वारा देवकीका सातवाँ गर्भ निकालकर रोहिणीके उदरमें रख दिया गया। तदनन्तर अष्टम गर्भके रूपमें भगवान्‌के आते ही उनके तेजसे देवकीकी देह-कान्ति बढ़ गयी और सम्पूर्ण सूतिका-गृह प्रकाशित हो उठा। जिससे कंस समझ गया कि मेरा काल इस गर्भमें आ गया है, क्योंकि यह पहले कभी ऐसी कान्तिमती न थी। इच्छा तो होती है कि इसे मार डालूँ पर वीर पुरुष स्वार्थवश अपनी वीरताको कलंकित नहीं करते। गर्भिणीका वध बड़ा ही अनर्थकारी होता है। इसके वधसे मेरी कीर्ति धूलमें मिल जायेगी, लक्ष्मी नष्ट हो जायेगी और आयु शेष हो जायेगी—इत्यादि बातें सोचकर वह देवकीके वधसे विरत हो गया और अन्तमें यही निश्चय किया कि पूर्ण गर्भकी प्रतीक्षा ही श्रेयस्कर है। चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते हर समय भयसे भगवान्‌का ही चिन्तन वह करने लगा—

आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् महीम्।
चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत् तन्मयं जगत्॥
(श्रीमद्भागवत १०।२।२४)

देवताओंने अव्यक्त रूपसे आकर गर्भगत भगवान्‌की स्तुति की और देवकीको भी सान्त्वना देकर वे अपने लोकमें चले गये।

जब भगवान्‌के आविर्भावका समय उपस्थित हुआ तब भूमण्डलपर सर्वत्र मंगलमय दृश्य दिखायी पड़ने लगे। ग्रह-नक्षत्र शान्तभावसे लग्नेशको देखने लगे, दिशाएँ स्वच्छ हो गयीं, निर्मल आकाशमें तारे जगमगा रहे थे, नगर एवं ग्रामोंमें मांगलिक गीत गाये जाने लगे, पृथ्वी शस्यश्यामला होकर सबको सुख देने लगी, व्रजकी गायोंके स्तनोंसे अपने-आप दूध टपकने लगा, मालूम होता था की प्रसन्नतासे पृथ्वी गौ बनकर दुग्धधारासे भगवान्‌को आप्यायित करनेके लिए उतावली हो रही हैं। नदियोंके जल निर्मल हो गये, सरोवरोंमें सुन्दर सरोज खिल उठे, पेड़ोंपर पक्षी कलरव करने लगे, भ्रमर अपने मनोहर गुंजारसे भगवान्‌का स्वागत गान करने लगे, शीतल मन्द एवं सुगन्ध वायु बहने लगी, कंसके अत्याचारसे यज्ञ-कुण्डोंकी शान्त अग्नियाँ अपने-आप प्रज्वलित हो उठीं। मालूम पड़ता था कि द्वापरमें त्रेता-युगका प्रवेश हो गया है। उस समय कंसको छोड़कर कोई ऐसा प्राणी न था, जिसका मन प्रसन्न न हो गया हो।

मर्त्यलोककी तो बात ही क्या है, स्वर्गमें भी दुन्दुभियाँ बजने लगीं। सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर आदि मधुर गान करने लगे, अप्सराएँ नाचने लगीं, आकाशसे देवता पुष्पवृष्टि करने लगे, मेघ धीरे-धीरे गर्जकर पानीकी बूँदें बरसाने लगे, आकाश मेघोंसे आच्छन्न हो गया जिसमें रह रहकर तारागण भगवान्‌की झाँकी देखनेके लिए मचलने लगे। भगवान्‌के अलौकिक सौन्दर्यके निमित्त मानो मेघ एवं ताराओंमें होड़-सी लग गयी। मेघ ताराओंको ढकता जाता था तथा तारागण मेघोंसे निकलते जाते थे। इस प्रकार सर्वगुण-सम्पन्न समय उपस्थित होनेपर भाद्रपद कृष्ण अष्टमी बुधवारके दिन रोहिणी नक्षत्र एवं जयन्ती योगमें आधी रातके समय षोडशकलापूर्ण भगवान् नारायण दिव्य रूप धारणकर देवकी देवीके गर्भसे उसी प्रकार प्रकट हो गये जिस प्रकार पूर्णमासी तिथिको प्राची दिशामें सोलह कलाओंसे पूर्ण चन्द्रमाका उदय होता है।

उस समय भगवान्‌का रूप बिल्कुल अलौकिक था, उनकी चार भुजाएँ थीं जिनमें शंख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण किये हुए थे। वक्षःस्थलमें श्रीवत्स चमक रहा था, ग्रीवामें कौस्तुभमणि लटक रही थी, वर्षाकालीन मेघके समान परम सुन्दर श्यामल शरीरपर मनोरम पीताम्बर फहरा रहा था, बहुमूल्य वैदूर्यमणिके किरीट और कुण्डलोंकी कान्तिसे घुँघराले बाल सूर्यकी किरणोंके समान चमक रहे थे। कमरमें करधनी, बाहुमें बाजूबन्द तथा कलाइयोंमें कंकण आदि दिव्य आभूषणोंसे बालकके अंग-प्रत्यंग चमचमा रहे थे—

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदार्युदायुधम्।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्॥
महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम्।
उद्दाम काञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभिर्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत॥

(श्रीमद्भागवत १०।३।९-१०)

वालककी इस अद्भुत सुन्दरताको देखकर वसुदेवजीके नेत्र आनन्दाश्रुसे भर गये। शरीरमें रोमाञ्च छा गया। वालकको परब्रह्म परमात्मा समझकर उनका भय दूर हो गया, बुद्धि स्थिरकर उन्होंने सिर झुका दिया और दोनों हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे। इधर देवकीजी भी अपने पुत्रमें पुरुषोत्तमका लक्षण देखकर उसका गुणगान करने लगीं। तदनन्तर भगवान्‌ने वसुदेव-देवकीको उनके पूर्व जन्मका वृत्तान्त–तपस्या और वरदानका प्रसंग सुनाकर अपनेको नन्द-गोकुलमें पहुँचाने और वहाँसे नन्द-कन्याको लानेका आदेश दिया। इसके वाद वे शिशुरूप हो गये। वसुदेवजीने आदेशका पालन किया। कंसने उस कन्याको हठात् प्रस्तरपर पटकना चाहा; पर वह हाथसे छूटकर आकाशमें देवी दुर्गाके रूपमें स्थित हो गयी।

इस प्रकार हमारे आराध्यदेव भगवान् श्रीकृष्णका अवतरण हुआ। उनका लालन-पालन गोकुलमें नन्दवावाके घरमें हुआ। गोकुल, वृन्दावन, गोवर्द्धन आदि पुण्य स्थानोंमें उनकी जो-जो अलौकिक लीलाएँ हुईं, श्रद्धापूर्वक प्रेमसे उनके श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनसे उत्तरोत्तर उनमें भक्ति बढ़ती है। कर्मवासनाएँ निवृत्त होती हैं और अन्तमें परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है जो मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है।

जो लोग अनेक प्रकारके सांसारिक दुःखोंसे दुखी होकर अत्यन्त दुस्तर संसार सागरसे पार जाना चाहते हैं उनके लिए भगवान् पुरुषोत्तमकी लीला-कथाके श्रवणसे अतिरिक्त कोई अन्य साधन नहीं हैं। अतः श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धमें व्यासजीने भगवल्लीला-कथा-रसायनका सेवन ही सर्वथा श्रेयस्कर बतलाया है—

संसार-सिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो-
नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवनमन्तरेण
पुंसो भवे विविधदुःखदवार्दितस्य॥

•

शान्त, दास्य और सख्यरसके आलम्बन आदिका विचार—

भक्तिरसमें श्रीकृष्णका उपास्य रूप

श्रीरामलाल

भक्तिरस-परक उपासनाके मूलाधार परम उपास्यतत्त्व-रस ब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। वे समस्त शक्ति—ऐश्वर्य, सौन्दर्य और माधुर्यके पूर्णतम विकास रूपमें समग्र भगवत्स्वरूपोंमें परमोत्कृष्ट हैं। उनके समान कुछ भी नहीं है :

'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।'

(श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।८)

जगत्में भक्तिमार्ग ही सर्वश्रेष्ठ, भयरहित और कल्याणस्वरूप है। इस मार्गपर भगवत्परायण सुशील साधुजन चलते हैं।

सध्रीचीनो ह्यं लोके पन्थाः क्षेम्योऽकुतोभयः।
सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः॥

(श्रीमद्भागवत ६।१।१७)

भक्तिमार्गकी उपासना दो तरहकी होती है। पहला विधिमार्ग है; इसमें भक्तजन सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सार्ष्टि—किसी भी मुक्तिके द्वारा परमव्योमस्थ वैकुण्ठादि लोकमें भगवत्पार्षदत्व प्राप्त करते हैं। दूसरा रागमार्ग है। इसमें भक्तजन पार्षददेहमें व्रजमें व्रजविलासी श्रीकृष्णकी प्रेमसेवा प्राप्त करते हैं। श्रीकृष्णप्रेमकी बलवती लालसा ही राग है। इस रागात्मिका भक्तिमें रागकी ही अधिकता रहती है। यह स्वतन्त्र और अन्यनिरपेक्ष है। रागानुगा भक्ति इसकी अनुगता होती है। यह रागात्मिका भक्तिकी समस्त सेवाकी अनुकूलता और सहायताका संयोजन करती है।

श्रीकृष्णसुखैकतात्पर्यमयी सेवा ही भक्तिरसके उपासकोंका एकमात्र काम्य है। श्रीवोपदेवका कथन है :

'व्यासादिभिर्वर्णितस्य विष्णोर्विष्णुभक्तानां वा चरित्रस्य नवरसात्मकस्य श्रवणादिना जनितश्चमत्कारो भक्तिरसः।'

(मुक्ताफल ११।२)

श्रवणदिका तात्पर्य है श्रवण, कीर्तन आदि। श्रीवोपदेवके मुक्ताफल ग्रन्थका उपजीव्य श्रीमद्भागवत है; इसलिए उनके कथनमें विष्णु और विष्णुभक्तिका अभिप्राय है श्रीकृष्ण और उनके परिकर।

आस्वाद्य वस्तुमात्र रसका प्राण (चमत्कार) है। कर्णपूरका कथन है :

'रसे सारश्चमत्कारो यं विना न रसो रसः।'

(अलंकार कौस्तुभ ६।५।७)

श्रीकृष्ण 'रसो वै सः'के स्वारस्यसे समलंकृत हैं। वे अपने स्वरूपानन्द और भक्त-चित्तमें स्थित प्रेमरसके निर्यासका आस्वादन करते हैं। भक्तिरस पाँच प्रकारका होता है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर।

पहला शान्त रस है। जीवगोस्वामीका कथन है कि यह ज्ञान भक्तिमय रस है।

'अत्र शान्तापरनामा ज्ञानभक्तिमयो रसः।'

(प्रीतिसन्दर्भ २०३)

आत्माराम तापस भक्तोंके चित्तमें आस्वाद्यत्वका उदय होता है, वे इसके द्वारा निर्विशेष ब्रह्मानन्दका अनुभव करते हैं। इसमें सच्चिदानन्द-विग्रह भगवान्‌के रूप-गुण आदिका अनुभव किया जाता है। शान्तरसके विषयालम्वन हैं चतुर्भुज भगवान् और आश्रयालम्वन हैं शान्तभक्त तापस-गण। ब्रह्माके मानस-पुत्र सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार आत्माराम शान्तभक्त हैं। वे प्रायः एक साथ रहते हैं, पाँच-छः सालके वालकके समान हैं, गौर वर्णके हैं, सदा ब्रह्मानन्दमें निमग्न रहते हैं। वैकुण्ठमें भगवान्‌का दर्शन पाकर उनकी कृपासे भक्तिलाभ करते हैं।

शान्तरसका उद्दीपन दो प्रकारका होता है—असाधारण और साधारण। महोपनिषदोंका श्रवण, निर्जन स्थान-सेवन, तत्त्वविचार, ज्ञानी भक्तका सत्संग तथा ब्रह्मसूत्र आदि असाधारण हैं और भगवत्पादपद्म-तुलसीगन्ध, पवित्र वन, सिद्धक्षेत्र आदि साधारण हैं। भगवान्‌के चरणस्थित तुलसीगन्धसे सनकादिमें श्रीकृष्ण-रति उद्दीप्त हुई थी।

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥

(श्रीमद्भागवत ३।१५।४३)

इसका आशय यह है कि सनकादि निरन्तर ब्रह्मानन्दमें निमग्न रहा करते थे पर जिस समय भगवान् कमलनयनके चरणारविन्द-मकरन्दसे मिली तुलसीमञ्जरीके गन्धसे सुवासित वायुने नासिकारन्ध्रसे उनके अन्तःकरणमें प्रवेश किया, उस समय वे अपने शरीरको सँभाल न सके, दिव्य गन्धने उनके मनमें संक्षोभ पैदा कर दिया।

शान्तरसका अनुभाव दो प्रकारका होता है—असाधारण और साधारण। निर्ममता, निरपेक्षता, निरहंकारिता आदि असाधारण तथा भक्ति-उपदेश, हरिके प्रति प्रणति आदि साधारण अनुभाव हैं। शान्तरसके उपासक योगियोंमें रोमाञ्च, स्वेद, कम्प आदि सात्त्विक भाव प्रकाशित रहते हैं, इसके संचारी भाव निर्वेद, धृति, हर्ष, स्मृति, विषाद आदि हैं।

इस रसका स्थायी भाव शान्तिरति है। यह दो तरहकी होती है, समा और सान्द्रा। मनमें श्रीकृष्णके प्रति अनुभवमयी शान्तिरति समा है, वाहर साक्षात् दर्शनमयी शान्तिरति सान्द्रा है।

शान्त भक्तिरसके सम्बन्धमें विशेष बात यह है कि सनकादिको इसकी प्राप्ति वैकुण्ठाधिपति नारायणकी कृपासे होती है, ये नारायण स्वयं परमेश्वर श्रीकृष्ण नहीं हैं, उनके अनन्त प्रकाशके मध्यमें एक प्रकाशमात्र हैं। ये ऐश्वर्यप्रधान स्वरूप हैं, इनकी कृपासे प्राप्त रति भी ऐश्वर्यज्ञानमयी होती है, शान्त-रसके विषयालम्बन इसीलिए परब्रह्म परमात्मा कहे जाते हैं। श्रीकृष्णकी कृपासे प्राप्त शान्तिरति विशिष्ट होती है। उनमें ऐश्वर्य और माधुर्य दोनोंका पूर्णतम विकास है पर पूर्णतम विकासमय ऐश्वर्य भी माधुर्यके अन्तरालमें आत्मगोपनकर माधुर्य अनुगत होता है, अपने स्वरूपमें अपने आपको प्रकाशित नहीं करता है। श्रीकृष्णकी सेवाके प्रयोजनके लिए अपना प्रकाश करता है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे प्राप्त रति तो शुद्ध माधुर्यमयी और ऐश्वर्यहीन होती है।

दूसरा दास्य भक्तिरस है। इसका दूसरा नाम प्रीत भक्तिरस भी है; श्रीधर स्वामीने श्रीमद्भागवत (१०।४३।१७) की टीकामें सप्रेम भक्ति कहा है। यह दास्य भक्तिरस दो प्रकारका होता है—सम्भ्रम प्रीतभक्तिरस और गौरव प्रीतभक्तिरस। श्रीकृष्णके पुत्रादि रूपमें लालन-पालनकी बात गौरवमें पुष्ट होती है। सम्भ्रममें विषयालम्बनसे हरि हैं और आश्रया-लम्बन उनके दास हैं। गोकुलवासीगण-सम्बन्धसे श्रीकृष्ण द्विभुज हैं पर अन्यत्र कहीं चतुर्भुज और कहीं द्विभुज हैं। प्रीतभक्तिरस-आलम्बनवाले श्रीकृष्णके रोमकूपमें कोटि ब्रह्माण्ड अवस्थित हैं, वे कृपा-समुद्र हैं, अविचिन्त्य महाशक्ति हैं। वे सर्वसिद्धिनिषेवित, आत्मारामगणाकर्षी, परमाराध्य, क्षमाशील, शरणागतपालक और सत्यवाक्य तथा प्रेमवश्य हैं। सम्भ्रमप्रीतभक्तिरस के आश्रयालम्बन भक्त चार प्रकारके होते हैं—(१) प्रश्रित—नतदृष्टिद्वारा स्थित हैं (२) निर्देशवशवर्ती—अपने भोग्य कर्ममें श्रीकृष्णकी आज्ञाके अनुसार स्वाभाविकी रुचि रखते हैं और उस रुचिके अनुवर्ती होते हैं, (३) विश्वस्त भक्त (४) श्रीकृष्ण-सम्बन्धसे प्रभूत ज्ञानवशवर्ती बुद्धिविशिष्ट भक्त। ये चारों क्रमशः अधिकृतदास, आश्रितदास, पारिषद भक्त और अनुग भक्त कहे जाते हैं। ब्रह्मा, शंकर और इन्द्र आदि अधिकृत दास हैं। आश्रित दास तीन प्रकारके होते हैं,—शरणागत, ज्ञानीचर, सेवानिष्ठ। शरणागत भक्त कालियनाग, जरासन्धके कारागारमें आबद्ध नृपतिगण आदि हैं। ज्ञानीचर शौनक आदि हैं। ये ऋषिगण मोक्षवासनाका परित्यागकर श्रीहरिका ही आश्रय ग्रहण करते हैं, ज्ञानमार्गका त्यागकर श्रीकृष्णचरणकी रति प्राप्त करते हैं। सेवानिष्ठ भक्त पहलेसे ही भजनमें लगे रहते हैं। चन्द्रध्वज बहुलाश्व, इक्ष्वाकु, श्रुतदेव और पुण्डरीकादिकी गणना सेवानिष्ठमें की जाती है। पारिषद भक्त द्वारिका नगरी-स्थित उद्धव, दारुक, जैत्र, शत्रुजित्, नन्द, उपनन्द, भद्र आदि हैं। द्वारिकाके परिकरोंमें उद्धव विशिष्ट माने जाते हैं। उनकी भक्ति ऐश्वर्य-ज्ञानमिश्रित है। अनुग भक्त सदा प्रभुकी परिचर्यामें आसक्त रहते हैं। इसके दो रूप हैं—पुरस्थ और व्रजस्थ। सुचन्द्र, मण्डन, सुतम्ब आदि पुरस्थ हैं, द्वारिकाके हैं। मण्डन श्रीकृष्णके मस्तकपर कनक-छत्रदण्ड धारण करते हैं, चन्द्र श्वेत चमर झलते हैं, सुतम्ब मर्यादा सहित ताम्बूल अर्पित करते हैं। व्रजस्थ अनुग भक्त, रक्तक, पत्रक, मधुकण्ठ, मधुव्रत, रसाल, आनन्द, चन्द्रहास आदि हैं।

पारिषद भक्त तीन तरहके होते हैं—धूर्य, धीर और वीर। धूर्य श्रीकृष्ण, उनके प्रेयसीवर्ग तथा दासोंमें यथायोग्य प्रीति-विस्तार करते हैं; धीर श्रीकृष्णकी किसी प्रेयसीका आश्रय ग्रहण करते हैं; वीर श्रीकृष्णकी कृपाका आश्रय लेते हैं, किसीकी भी अपेक्षा नहीं रखते हैं और श्रीकृष्णमें उनकी अतुल प्रीति होती है।

सम्भ्रम प्रीतरसके उद्दीपन असाधारण और साधारण होते हैं। श्रीकृष्णकी अनुग्रह-प्राप्ति, उनकी चरणधूलिकी संप्राप्ति, भुक्तावशेष महाप्रसादकी उपलब्धि तथा उनके भक्तोंका संग आदि असाधारण और मुरलीध्वनि, शंखध्वनि, श्रीकृष्णकी सहास्य-दृष्टि, श्रीकृष्णगुणोत्कर्ष-श्रवण और उनके पदचिह्न आदि साधारण उद्दीपन हैं। नियुक्त परिचर्या-कार्यमें अधिक परिग्रह, परिचर्याके विषयमें परस्पर उत्कर्ष-दर्शनकी ईर्ष्यालेश-शून्यता, श्रीकृष्णदासोंके साथ मित्रता तथा केवल दास्यरतिमें निष्ठा और श्रीकृष्णके सुहृद्वर्गके प्रति आदर तथा विरागादि-भावसमूह क्रमशः असाधारण और साधारण उद्दीपन हैं। सम्भ्रमप्रीति ही इसका स्थायीभाव है, यह प्रीति ह्रास-शंकारहित होकर प्रेम कहलाती है। प्रेम गाढ़ होनेपर चित्तका द्रवित होना स्नेह है, इस स्नेहका क्षणिक विच्छेद भी असह्य होता है।

गौरव प्रीतरसका उदय उनमें होता है जिनमें इस अभिमानका पोषण होता है कि श्रीकृष्ण हमारे बालक हैं। हरि इस रसके विषयालम्बन हैं और उनके लाल्यभक्तगण आश्रयालम्बन हैं। सारण, गद, सुभद्र आदि कनिष्ठत्वादि-अभिमानी हैं तथा प्रद्युम्न, साम्ब आदि यदुकुमारगण पुत्रत्वादि-अभिमानी हैं। साम्बादि श्रीकृष्णके साथ भोजन करते हैं, श्रीकृष्ण अपनी गोदमें बैठा लेते हैं, उनका मस्तक सूँघते हैं। इनमें रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नकी प्रधानता है। गौरव प्रीतरसका उद्दीपन है, श्रीकृष्णका वात्सल्य, उनकी मन्द मुसकान, स्नेहमयी दृष्टि आदि। स्तम्भ और रोमाञ्च आदि सात्त्विक भाव हैं।

दास्यभक्ति रसके उपास्य श्रीकृष्ण हैं। परमेश्वर नराकारवाले कृष्ण विषयालम्बन हैं और श्रीकृष्णके लीलान्तःपाती निजगुण-गरीय भृत्यवर्ग इसके आश्रयालम्बन हैं।

तीसरा सख्यभक्तिरस है। इसका दूसरा नाम प्रेयोभक्तिरस है। इसके विषयालम्बन हरि हैं और आश्रयालम्बन उनके वयस्यगण हैं। वे व्रजमें द्विभुज और अन्यत्र कहीं द्विभुज, कहीं चतुर्भुज हैं। व्रजमें श्रीकृष्ण गोप हैं तो द्वारिकामें क्षत्रिय हैं। वयस्यगण श्रीकृष्णको अपने समान समझते हैं। वे दास्यभाववालोंकी तरह न तो उन्हें बड़ा तथा वात्सल्य भाववालोंकी तरह न तो छोटा और अनुग्रह करने योग्य मानते हैं। वे दो तरहके होते हैं—पुर-सम्बन्धी तथा व्रजसम्बन्धी। अर्जुन, भीमसेन, द्रौपदी आदि पुरसम्बन्धी हैं, इनमें अर्जुनकी प्रधानता है। व्रजस्थ वयस्यगण श्रीकृष्णके क्षणिक अदर्शनसे भी दुःखकातर हो जाते हैं। श्रीकृष्ण ही उनके एकमात्र जीवन हैं। श्रीमद्भागवतमें वचन मिलता है :

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥

(श्रीमद्भागवत १०।१२।११)

भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानी संतोंके लिए स्वयं ब्रह्मानन्दके मूर्तिमान् अनुभव हैं, दास्यभावसे युक्त भक्तोंके लिए वे आराध्यदेव परम ऐश्वर्यशाली परमेश्वर हैं, मायामोहित विषयान्धोंके लिए वे केवल मनुष्य-बालक हैं। उन्हीं भगवान्‌के साथ पुण्यात्मा ग्वाल-बाल तरह-तरहके खेल खेलते हैं।

व्रजवयस्य चार प्रकारके होते हैं—सुहृद, सखा, प्रियसखा और प्रिय नर्मसखा। सुहृदोंमें वात्सल्य-गन्ध है, उनकी अवस्था भी कृष्णसे अधिक है, वे अस्त्रधारण कर दुष्टोंसे सदा कृष्णकी रक्षा करते हैं। सुभद्र, मण्डलीभद्र, यक्षेन्द्रभट, वीरभट और बलभद्र आदि गोपबालक सुहृद् हैं। कनिष्ठ सखामें सख्यपरक प्रीति होती है। विशाल, वृषभ, देवप्रस्थ, वरूथप और मणिबन्ध आदि सखा हैं, एकमात्र सेवा-सौख्यमें उनका अनुराग रहता है। प्रियसखाकी अवस्था श्रीकृष्णके समान होती है, वे केवल सख्यका आश्रय करते हैं। श्रीदाम, सुदाम, दाम, वसुदाम, स्तोककृष्ण, भद्रसेन आदि प्रियसखा हैं। वे कौतुक, बाहुयुद्ध आदिके द्वारा श्रीकृष्णको आनन्दित करते हैं। प्रिय नर्मसखा इन तीन सखाओंमें श्रेष्ठ होते हैं, अत्यन्त गोपनीय कार्यमें भी श्रीकृष्णके लिए नियुक्त होते हैं; सुबल, गन्धर्व, वसन्त, उज्ज्वल आदि प्रिय नर्मसखा हैं। ये वयस्यगण तीन तरहके होते हैं नित्यप्रिय-नित्यसिद्ध, सुरचर और साधक। साधकका तात्पर्य साधनसिद्ध वयस्यसे है तथा सुरचर वयस्य पहले देवता थे, उन्होंने साधनफलसे कृष्णवयस्यत्व प्राप्त किया।

प्रेयोभक्तिरसका उद्दीपन है हरिका वयस, रूप, शृङ्ग, वेणु, शंख, पराक्रमादि तथा अनुभाव बाहुयुद्ध, कन्दुककेलि, स्कन्ध-आरोहण आदि। श्रीकृष्णके सुहृद् सखा कर्तव्याकर्तव्यका उपदेश देते हैं, सखा मुखमें ताम्बूल अर्पित करते हैं, तिलक लगाते हैं, प्रिय सखा श्रीकृष्णको बाहुयुद्ध आदिमें पराजित करते हैं, उनका वस्त्र पकड़कर खींचते हैं। प्रिय नर्मसखा व्रज-किशोरीके सम्बन्धमें दूत-कार्य करते हैं, उनके प्रणयका अनुमोदन करते हैं। क्रीड़ा-कलह उत्पन्न होने पर वे व्रजकिशोरियोंके मुकाबले श्रीकृष्णका पक्ष लेते हैं।

सख्य-रसके सात्त्विक भाव अश्रु-कम्पादि हैं। श्रीकृष्ण-विषयक उग्रता आदि सञ्चारी भाव हैं। प्रायः परस्पर दो समान सखाओंके मध्यमें सम्भ्रमशून्य और विश्रम्भात्मिका रति ही सख्यरसका स्थायी भाव है। इस रसमें श्रीकृष्ण और उनके सखा दोनोंका एकजातीय भावमाधुर्य प्रस्फुटित होता है। यह रस एक अनिर्वचनीय चित्त-चमत्कृतिका पोषण करता है।

सख्यरस दास्य और वात्सल्य रससे श्रेष्ठ कहा गया है। दास्यरसमें दास श्रीकृष्णमें गुरुबुद्धि रखते हैं, वात्सल्यके आश्रय नन्द-यशोदा श्रीकृष्णका पुत्र-भावसे लालन करते हैं, इन दो रसोंमें विषय और आश्रयका भाव सजातीय नहीं है पर सख्यभक्तिरसमें विषयालम्बन श्रीकृष्ण और आश्रयालम्बन सखागणमें गौरव-बुद्धि तथा लाल्य-बुद्धिका अभाव है, दोनोंमें दोनोंके प्रति समान भाव है, एकजातीय भाव है, इसलिए सख्यरस बड़ा माधुर्यमय है, अपूर्व चमत्कार-विधायक है।

पश्चाताप

क्या-क्या किया न इस जीवन में।

स्वप्नों की दुनियाँ में मैंने,
आशाओं के महल बनाये।
कितने मिले, न कितने बिछुड़े,
कितने निज मद में ठुकराये।

विष-अमृत दोनों को चख कर,
क्या-क्या पिया न इस जीवन में॥ १॥
क्या-क्या किया न इस जीवन में।

मैंने अपने पागलपन में,
सदा लुटाये अनुपम मोती।
पीकर चन्दा की मृदु मदिरा,
दूषित की पावन तन जोती।

दुःख-सुख की लघु सीमा में बंध,
क्या-क्या लिया न इस जीवन में॥ २॥
क्या-क्या किया न इस जीवन में।

सोच-सोच कर आज यही मन,
बार-बार मेरा घबड़ाता।
जिनके लिए किया सब कुछ था,
निभा न पाया कोई नाता।

नश्वर कलियों के बदले में,
क्या-क्या दिया न इस जीवन में॥ ३॥
क्या-क्या किया न इस जीवन में।

—श्री त्रिलोकीनाथ 'ब्रजबला'

हमारे साधु क्या करें ?

प्राणाचार्य कविवर पं० श्रीहरिदत्त जोशी, काव्य-सांख्य-स्मृतितीर्थ

अनन्तश्रीविभूषित स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराजके द्वारा संस्थापित 'चिन्तामणि' पत्रिकाके मई, १९६९ के अंकमें हरिद्वारके सुभाष घाटपर 'भारत साधु समाज'के अधिवेशनमें प्रदत्त श्रीस्वामीजी महाराजका एक भाषण—'क्या साधु कुछ राष्ट्र-सेवा कर सकते हैं ?' शीर्षकसे प्रकाशित हुआ है। वही भाषण 'श्रीकृष्ण-सन्देश'के अगस्त, १९६९के अंकमें भी छपा है। श्रीस्वामीजी महाराज प्रकाण्ड विद्वान्, शास्त्रोंके महान् मर्मज्ञ, पूर्वाश्रमके हमारे गाढ़ मित्र एवं वर्तमान आश्रममें संन्यासी होनेके कारण परमादरणीय तथा श्रद्धास्पद हैं। उन्होंने इस भाषणमें जगत्‌की वर्तमान स्थितिका, भारतकी परिस्थितिका, विभिन्न मतों, वादों, पदाधिकारपर आरूढ़ लोगों, गरीबोंकी अवहेलना करके स्वार्थसाधन करनेवालों, उनकी गरीबीका दुरुपयोग करके उनके विश्वास, संस्कार और परम्पराओंका नाश करके उन्हें धर्मान्तरित करनेवाले मजहबी लोगों—आदिका बहुत संक्षेपमें बड़ा सजीव चित्र

पूज्य श्रीजोशीजीका विचार, जो इस लेखमें प्रतिपादित हुआ है, सत्य और शास्त्रसम्मत है। पू० स्वामी अखण्डानन्दजी भी इससे असहमत नहीं हैं; उनके भी वे ही विचार हैं; जो श्रीजोशीजीके हैं। चाण्डालवाली कथामें तो आश्रमातीत परमहंस संन्यासीकी दृष्टि कैसी होनी चाहिए; इसीकी ओर संकेत किया गया है। समदृष्टि तो सभीके लिए अभीष्ट है, किन्तु समवृत्ति या समवर्तन नहीं। साधारण वर्णाश्रमाभिमानीके लिए तो व्यवहार-भेदका पालन धर्म-पालनकी ही भाँति आवश्यक है। पू० स्वामीजीने साधु-संन्यासियोंको लक्ष्य करके जो बात कही है, उसे गृहस्थको अपने ऊपर हठात् आरोपित नहीं करना चाहिए। उनकी समीक्षात्मक दृष्टि नितान्त सामयिक है।—संपादक

खींचा है। सबके हितके लिए बड़े सुन्दर तथा उपयोगी विचार प्रकट किये हैं। हिन्दूधर्मकी उदारता तथा उसके तत्त्व-ज्ञान, आध्यात्मिकता, समदर्शिता, हृदयकी पवित्रता, आत्माकी दृष्टिसे अभेदभाव एवं शिक्षामें ईश्वर, धर्म, नैतिकता एवं सदाचारके समावेशकी आवश्यकता आदिपर बड़े मार्मिक शब्दोंमें दिग्दर्शन कराया है। साधुओंके कर्त्तव्य और साधु-समाजकी आवश्यकताके लिए उपयुक्त सम्मति दी गयी है। इस भाषणको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे लोगोंको बड़े सुन्दर विचार तथा कल्याणकारी मार्गदर्शन प्राप्त होगा, इसमें सन्देह नहीं।

पर साथ ही इसमें कुछ ऐसी बातें भी आ गयी हैं, जिनसे सर्वत्र सम-भावसे आत्म-दर्शनरूप आध्यात्मिक, दार्शनिक, परमतत्त्वरूप परमधर्मके साथ भारतके महान् मनीषियों-द्वारा प्रतिष्ठित नित्यकालीन वर्णाश्रमरूप व्यावहारिक धर्मका कुछ सम्मिश्रण हो गया है, जिससे शास्त्र-संस्कार-शून्य राजनैतिक नामधारी नेता (आपकी ही भाषामें) राष्ट्रकी उन्नति तथा जनताकी प्रगतिसे कोई सम्बन्ध न रखनेवाले, धर्म, ईश्वर, संस्कृतिको तुच्छ समझनेवाले सिद्धान्तहीन राष्ट्रहित-विमुख पदाधिकार-प्राप्त लोग, आवश्यक, उपयुक्त, अनिवार्य व्यवहार-भेदको मिटाकर उच्छृङ्खलतापूर्ण पाशविकताके प्रचारक एवं वर्णाश्रम-धर्मानुकूल आचरण ताथ धर्मानुकूल व्यवहार-भेदके पालक एवं प्रचारक धर्मभीरु व्यक्तियोंका और समाजका अनीतिपूर्ण अभद्रतायुक्त शब्दोंमें अपमान तथा उनपर आक्रमण करने एवं धर्म-शास्त्रोंको नष्ट करनेकी सम्मति देने तथा माँग करनेवाले लोग अनुचित लाभ उठाकर प्रसन्न हो सकते हैं तथा धर्म-पालन-परायण जनता भ्रममें पड़कर पथ-भ्रष्ट हो सकती है। इसीका स्पष्टीकरण करनेके लिए बड़े सद्भावसे निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं।

आपका यह कहना सर्वथा सत्य है—"सम्पूर्ण विश्वका मूल मसाला ही, जो कि चेतन है, आराध्य देवता है। मित्र अथवा सूर्यकी दृष्टिसे सम्पूर्ण प्राणियोंको देखो। जो संसारके किसी प्राणीका तिरस्कार करता है, उसपर ईश्वर कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। अभिमानी, भेददर्शी, द्वेषी, और भूतद्रोहीको कभी शान्ति नहीं मिल सकती। सब प्राणी ही ईश्वरके मन्दिर हैं। दान, सम्मान, मैत्री, और आत्मदृष्टिसे सबको देखना चाहिए। ये हैं हमारे धर्मके उदार उद्गार, जिन्हें आप भागवतादि ग्रंथोंमें अनायास ही प्राप्त कर सकते हैं। यह एकत्व-वादी, अद्वयवादी, सर्वात्मवादी धर्म है।"

इस सिद्धान्तको पुष्ट करनेके लिए आपने सनातनधर्मके महान् आचार्य जगद्गुरु श्रीआदि शंकराचार्यजीका उदाहरण दिया है। आपने लिखा है—

जब वे काशीमें गंगास्नानके लिए पधार रहे थे। सामने कुत्तों सहित चाण्डाल खड़ा है। आचार्यने कहा—"दूरं गच्छ—दूर हट जाओ।" चाण्डालने कहा—"संन्यासि-शिरोमणि! ज्ञानीजी महाराज! आप देहको दूर हटाना चाहते हैं या आत्माको? क्या पाँच-भौतिक अन्नमय देह पृथक्-पृथक् है अथवा साक्षी चेतन आत्मा पृथक्-पृथक् है? आप स्पष्ट बताइये—वेषका आदर है कि ज्ञानका? कोई 'दण्ड-मण्डित-कर' अथवा 'धृत-कुण्ड' होनेसे ही श्रेष्ठ हो जाता है क्या?" आचार्यने चाण्डालके वचनकी गम्भीरता और तात्त्विकताको धारण किया। चाण्डालने अन्तमें कहा—"तपोधन! मैंने तुम्हारी निष्ठामें जो दोष था, दूर कर

दिया।" शंकरदिग्विजयकी इस कथाका मूल शंकराचार्यद्वारा रचित मनीषापंचकमें विद्यमान है। उन्होंने स्पष्ट गाया है कि 'जिसको ब्रह्मात्मैक्यबोध प्राप्त हो गया है, वह चाण्डाल हो या ब्राह्मण, मेरा गुरु है।' हिन्दू समाजका यह सिद्धान्त करामलकवत् प्रत्यक्ष है कि जाति और वेषकी अपेक्षा ज्ञानका आदर सर्वोपरि है।

यह भी सत्य है कि कर्ममें सार्वजनिक हितकी, समष्टिकी अथवा सर्वान्तर्यामी ईश्वरकी दृष्टि ही धर्म है। प्रान्तीयता, जातीयता, साम्प्रदायिकता आदिके नामपर होनेवाले वैमनस्य, द्वेष, अथवा घृणाके लिए अवकाश नहीं है। हिन्दू समाज अत्यन्त उदीर्ण और विस्तीर्ण है। इन विचारोंमें कोई भी मतभेद नहीं है। परन्तु सर्वत्र आत्म-दर्शनरूप अनुभूतिके साथ उचित-भेद-प्राप्त व्यवहार-पक्षको मिलाना किसी प्रकार भी युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। भारतीय तत्त्वज्ञानके दो पक्ष स्पष्ट हैं—एक है तत्त्वज्ञान, जिसको हम 'दर्शन' कहते हैं। दूसरा पक्ष है—आचार, जिसको 'धर्म' कहते हैं। इसीलिए मनुने लिखा है—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः॥

(मनुस्मृति १.१०८)

वास्तवमें हिन्दूधर्म—सनातन धर्म या वैदिक धर्म ही विश्वधर्म है। इसमें मृत पशुओंका माँस खानेवाले पुल्कस (चाण्डाल) से लेकर महान्-से-महान् तृण, जल अथवा केवल वायुके आहार पर जीवन निर्वाह करनेवाले महर्षि, योगी, तपस्वी सभी समा जाते हैं। इसी दृष्टिसे इसको 'शाश्वत धर्म' या 'सनातन धर्म' कहते हैं। इस नित्यधर्मका आधार केवल परब्रह्म परमात्मा ही है। कोई आचार्य, महर्षि तथा पुरुष विशेष नहीं है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ (गीता १४.२७)

मैं अव्यय अमृत ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ तथा शाश्वत सुखका तथा शाश्वत धर्मका एकमात्र आधार भी मैं ही हूँ। इस धर्मका मूल आधार वेद है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥ (मनुस्मृति २.६)

चारों वेद धर्मके मूल हैं और उन वेदोंके ज्ञाताओंके द्वारा रचित वेदमूलक स्मृतियाँ तथा आचार भी धर्ममें प्रमाण हैं और जिस कर्मके करनेसे राग-द्वेष आदिसे शून्य आत्माकी सन्तुष्टि होती है, उसे भी धर्ममें वैकल्पिक प्रमाण माना है। इन प्रमाणोंमें भी वेदके अतिरिक्त जो स्मृतियाँ हैं, उनमें मनुस्मृतिको सबसे अधिक आदर दिया गया है। छान्दोग्य ब्राह्मणमें कहा है—

'मनु वै यत्किञ्चिदवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः'

जो कुछ मनुने कहा है, सो सब दुःखोंको दूर करनेवाली सर्वोत्तम भेषज हैं; क्योंकि उसका मूल वेद है। बृहस्पति स्मृतिमें कहा गया है—

'वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम् ।'

वेदके सारको ही मनुने उपनिबद्ध किया है। इसलिए मनु सबसे श्रेष्ठ हैं। उस मनुस्मृतिमें सबके पृथक्-पृथक् धर्म बतलाये गये हैं। इसका कारण यह है कि वेद तथा तदनुयायी शास्त्रोंकी दो दृष्टि हैं—एक 'परमार्थ दृष्टि', जिसमें जीव, जगत्, परमेश्वरके मूल-तत्त्वका साक्षात् अनुभव है। इसीको 'दर्शन' कहते हैं। दार्शनिक दृष्टिसे शुद्ध सच्चिदानन्द परमतत्त्व परमात्माके अतिरिक्त जगत् और जीव आदि जो कुछ विभिन्न पदार्थ भास रहे हैं, वे वास्तवमें कुछ भी नहीं है। परन्तु इस परमार्थ-दृष्टिको प्राप्त करनेके लिए जब तक हम व्यावहारिक जगत्में विद्यमान हैं, तब तक व्यवहारमें प्रतीत होनेवाले भेदके अनुसार हमारे आचरण और धर्म भी पृथक्-पृथक् रहते हैं और रहेंगे भी। उन शास्त्रोक्त पृथक् धर्मोंके आचरणोंको करते हुए एक ही ब्रह्मतत्त्वको प्राप्त करना—'सनातन धर्म' कहलाता है। उन धर्मोंके द्वारा ही जगत्की रक्षा होती है। इतना ही नहीं, उनका निष्काम भावसे पालन करनेसे ही हमारा अन्तःकरण इतना शुद्ध हो जाता है कि जिससे हम विभिन्न वर्णों तथा जातियोंमें रहते हुए, अपने-अपने धर्मोंका पालन करते हुए एक ही परम लक्ष्य परमार्थदृष्टिको प्राप्त कर लेते हैं, जहाँ नित्यसत्य एकमात्र अद्वैत अखण्ड आनन्दतत्त्वके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(गीता १८.४५)

अपने-अपने कर्ममें लगा हुआ ही मनुष्य ज्ञानरूप संसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

गीतामें जिसको कर्मयोग कहा है और जिसके आचरणके बिना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती, वह कर्मयोग वर्णाश्रम धर्म ही है, जिसके लिए भगवान्ने कहा है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ५.६)

संन्यास (ब्रह्मज्ञान), जिसमें जीवका ब्रह्ममें सम्यक् प्रकारसे न्यास हो जाता है, वह ब्रह्म-संन्यास बिना कर्मयोगके प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए मनुके रूपमें अवतरित भगवान्ने जगत्की रक्षाके लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंद्वारा आचरणीय पृथक्-पृथक् धर्म बतलाये हैं।

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरूपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत्॥

(मनुस्मृति १.८७)

इन धर्मोंके पालनसे सभी वर्ण भगवान्को प्राप्त कर लेते हैं। अपने धर्मको छोड़कर दूसरे वर्णके श्रेष्ठ धर्मोंका पालन भी भय देनेवाला है। कहा गया है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

(गीता ३.३५)

अस्तु, जिस धर्मकी स्थापनाके लिए स्वयं भगवान् युग-युगमें अवतार लेते हैं, वह वर्णाश्रम-धर्म ही है। जगद्गुरु श्रीआद्यशंकराचार्यजीने अपने गीता-भाष्यमें 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' श्लोककी व्याख्या करते हुए लिखा है—"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः हानिः वर्णाश्रमादिलक्षणस्य प्राणिनाम् अभ्युदयनिःश्रेयससाधनस्य भवति भारत, अभ्युत्थानम् उद्भवत्र अधर्मस्य तदा आत्मानं सृजामि अहं मायया।—हे भारत! वर्णाश्रम आदि जिसके लक्षण हैं एवं प्राणियोंकी उन्नति और परम कल्याणका जो साधन है, उस धर्मकी जब-जब हानि होती है और अधर्मका अभ्युत्थान अर्थात् उन्नति होती है, तब-तब ही मैं मायासे अपने स्वरूपको रचता हूँ।" (गीता ४.७)

इसीलिए इस वर्णाश्रम धर्मके अनुसार क्षात्र-धर्मको छोड़कर ब्राह्मण-धर्मको धारण करनेके लिए प्रस्तुत अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने बड़ी दृढ़तासे रोका था और स्पष्ट कहा था—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २.३३)

ब्राह्मणके शान्त्यादि प्रधान धर्मको श्रेष्ठ समझकर धारण करनेकी इच्छावाले अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने कहा—"यदि तुम अपने क्षात्रधर्मरूप युद्धको हीन कर्म समझकर छोड़ दोगे तो स्वधर्म-त्याग करनेके कारण पापके भागी बन जाओगे। एवं इस लोकमें तुम्हारी कीर्ति नष्ट हो जायेगी।' वास्तवमें हिन्दू-शास्त्र किसी भी कर्मको निर्दोष नहीं मानता। श्रेष्ठ प्रतीत होनेवाले कर्ममें भी कुछ-न-कुछ दोष रहता ही है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ (गीता १८.४८)

अपना सहज कर्म, जो जाति और वर्णके अनुसार जिसे प्राप्त है, वह उसे नहीं छोड़ना चाहिए; क्योंकि सम्पूर्ण आरम्भ (क्रियामात्र) दोषसे आवृत्त हैं, जैसे धूमसे अग्नि। इसीलिये—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ (गीता १८.४७)

दूसरेके सम्यक् प्रकारसे अनुष्ठित श्रेष्ठ प्रतीत होनेवाले धर्मसे अपना अपेक्षाकृत विगुण धर्म भी श्रेष्ठ है। अपने स्वभाव-नियत कर्मको भगवदाराधन या लोकसेवा बुद्धिसे करता हुआ मनुष्य किसी भी पापको नहीं प्राप्त होता।

इस दृष्टिसे तो सभी प्राणियोंका धर्म एक ही है, जिसको सनातन धर्म कहते हैं। परन्तु उन सबके कर्त्तव्य-कर्म, वर्ण, जाति तथा स्थितिके अनुसार पृथक्-पृथक् हैं। सभी मनुष्य एक ही प्रकारके कर्मके अधिकारी नहीं हैं। इसलिए व्यवहार-अवस्थामें वर्ण-भेद, जाति-भेद और कर्म-भेद स्वाभाविक हैं। यह भेद सदा रहता है और रहेगा; क्योंकि यह प्राकृत है। यह दूसरी बात है कि यह कभी सम्शृंखलाबद्ध अविकृतरूपमें रहता है, तो कभी यथेच्छाचार बढ़ जानेसे विशृंखल और विकृत रूपमें। प्रकृतिका स्वभाव विषमता है। जब तक प्रकृतिके गुणोंमें विषमता है, तभी तक सृष्टि है। गुण-साम्य ही प्रलय है। (शेष आगामी अङ्कमें)

आंडालका अलौकिक अनुराग और आत्मसमर्पण

दक्षिण भारतकी मीरा : आंडाल

श्रीबिरधीचन्द्र जैन शास्त्री, सा० रत्न, गीताविशारद, रामायणरत्न

★

श्रीकृष्ण भक्तिके क्षेत्रमें जो स्थान राजस्थानकी मीराका है वही स्थान भक्तिके क्षेत्रमें तामिलनाडकी प्रेमयोगिनी आंडालका है। दोनोंकी भक्ति-भावनाको दृष्टिगत रखते हुए यह कहना सरल बात नहीं है कि दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ? किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दोनोंकी भावनाका मूल आधार भगवान् श्रीकृष्णके प्रति प्रेम-भक्ति ही था। मीराकी विरहिणी आत्माकी पुकार भी अपने प्रियतम श्रीकृष्णके लिए ही थी और आंडालकी विरहिणी आत्माकी पुकार भी अपने प्रियतम श्रीकृष्णको ही पानेके लिए थी—

घायल की गति घायल जाने, और न जाने कोय।
हेरी मैं तो दरद दीवानी, मेरो दरद न जाने कोय॥ —'मीरा'

× × × ×

नीले कालीन की भाँति,
आकाश में घिरे बादलों !
मोती बरसाने वाले,
हे ! महादानी बादलों !
तुम्हीं बोलो न,
कुछ तो बताओ साँवरे की बात !
मेरे उर में भड़क रही है आग,
और मैं इस अर्धरात्रिमें !
इस दुधारी आगसे सुलगती हूँ,
तरस खाओ, मेरी इस दशा पर !!—'आंडाल'

दोनोंकी विरहिणी आत्मा श्रीकृष्णकी ही प्रेयसीके रूपमें प्राप्त होती हैं। जिस प्रकार राजस्थान एवं उत्तरी पश्चिमी क्षेत्रोंमें मीराबाईके भजन गाये जाते हैं उसी प्रकार आन्ध्र एवं समस्त दक्षिणी प्रदेशोंमें श्रीकृष्ण-भक्त आंडालके भजन गाये जाते हैं ! मीरा और आंडालकी इस भक्तिमें एक आश्चर्यजनक साम्यका दर्शन होता है, जिसके कारण यह कहना कठिन है कि कौन अधिक प्रेम-दिवानी थी एवं किसकी भक्ति-भावनामें कितनी श्रद्धा-भक्ति और अपार प्रेम-शक्ति निहित थी !

आंडालकी जीवन-कथा बड़ी आश्चर्यजनक है। कहा जाता है कि नित्यकी भाँति एक सन्त पेरियालवार अपनी पुष्प-वाटिकामें भगवान् रंगनाथको समर्पित करने हेतु सुन्दर-सुन्दर पुष्पों का संचयन कर रहे थे ! अभी सन्तने कुछ ही पुष्प संचित किये थे कि उनकी दृष्टि ऐसी कन्या पर पड़ी जो नवजात थी एवं पत्र-पुष्पोंसे सुसज्जित थी ! ऐसा मालूम हो रहा था जैसे पुष्प-वृक्ष उसपर पुष्प बरसा रहे हों......., कोकिलाएँ जैसे अपना मधुर राग उसीको प्रसन्न करनेके लिए गुँजा रही हों और मयूर आदि पक्षि-वृन्द जैसे अपने पैरोंसे उसकी रक्षा कर रहे हों।

सन्त उस नवजात कन्याके पास गये और देखा—बालिकाका शरीर अद्वितीय आभासे प्रकाशमान है एवं उसका चेहरा एक अज्ञात अलौकिक शक्तिके समान दिव्य कान्तिसे देदीप्यमान है ! सन्तका हृदय इस बालिकाको देखकर प्रमुदित हो गया ! वे उसे प्रभुकी देन समझकर वाटिकासे उठा लाये और भगवान् श्रीरंगनाथके पुण्य चरणोंमें अन्य पुष्पोंके साथ ही समर्पित कर दिया और कहा—'**हे प्रभु ! यह तुम्हारी ही सम्पत्ति है जो तुम्हारी ही सेवा करनेके लिए आयी है 'अतः इसे अपने पुण्य-चरण-कमलोंमें स्थान दो**...।'

'इसके पश्चात्के प्रसंगमें अनेक किम्वदन्तियोंका उल्लेख प्राप्त है किन्तु उन सभीको अप्रमाणित मानता हुआ मैं एक सर्वप्रचलित किम्वदन्तीको प्रमाणित मानता हूँ, जो इस प्रकार है—

'सन्त पेरियालवारके इन शब्दको सुनकर भगवान् रंगनाथकी दिव्य मूर्तिके अधर हिले और यह स्वर मंदिरमें सशब्द गूँज उठा—'**कन्याको अपने ही घरमें रखो और निज-कन्याके सदृश इसका पालन-पोषण करो।**'

यह आदेश पाकर संत उस बालिकाका अपने घरमें पालन-पोषण करने लगे !

कहा जाता है कि बाल्यावस्थामें आंडालने जब बोलनेका उपक्रम किया तो उसके मुखसे श्रीविष्णुका नाम ही मात्र निकला था। अबोध बालिकाके मुखसे श्रीविष्णुका नाम सुनकर सन्त चकित रह गये और कुछ ही दिनोंमें आंडाल समस्त तामिल प्रदेशमें लोगोंके आश्चर्यका कारण बन गयी। यह आश्चर्य आंडाल-विषयक आश्चर्यकी चरमसीमा, आंडाल और भगवान् रंगनाथके विवाहोत्सव पर आकर समाप्त होती है।

कहा जाता है कि विवाहके पूर्व एक दिन आंडाल भगवान्के प्रेममें इतनी तन्मय हो गयी कि भगवान्को समर्पित करनेवाला पुष्पहार समर्पणके पूर्व स्वतः ही पहन लिया ! फिर वह दर्पणके सम्मुख खड़ी होकर सौन्दर्यमयी छविको निहारने लगी। देखते ही देखते वह स्वगत ही प्रश्न करती है—'**क्या मेरा यह रूप-वेष मेरे प्रियतम रंगनाथके हृदयको रिझा सकेगा**..?' और....फिर अपनी कुछ समय पश्चात् आंडाल वही पुष्पहार लेकर भगवान् रंगनाथको समर्पित करने मंदिरमें गयी ! मंदिरमें आंडालका पुष्पहार पुजारीने सहर्ष ले लिया और भगवान्को अर्पित करने मूर्तिके निकट बढ़ा। तभी पुजारीकी दृष्टि पुष्पहारमें लिपटे एक लम्बे, श्यामकान्ति-सुगन्धित केशपर पड़ी। पुजारीने वह पुष्पहार भगवान्को अर्पित न कर आंडालको अपना संदेह व्यक्त करते हुए लौटा दिया कि—'यह

किसी नारीके द्वारा पहनकर तिरस्कृत किया हुआ हार है। यह भगवान्‌को अर्पित नहीं किया जा सकता।' पुजारीकी बात सुनकर आंडाल हार वापस ले आयी और पुनः यह समझकर कि इसमें मेरा क्या दोष ? मैं तो बराबर हार लेकर उनके दरवाजे पर गयी थी किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया—मन्दिर नहीं गयी !

तदनन्तर, पुजारीने इस घटनासे सन्त परियालवारको अवगत कराया। घटना सुनकर संतका हृदय दुःखित हुआ। उन्होंने इस घटनाकी सत्यताको खोजनेका निश्चय किया और दूसरे दिन छिपकर आंडालकी दिनचर्याको देखने लगे ! आंडालने प्रतिदिनकी भाँति वाटिकासे पुष्प चुने और सुन्दर हार तैयार कर लिया। जब हार तैयार हो गया तो उसने वह हार गलेमें पहिन लिया एवं दर्पणके समक्ष खड़ी होकर अपना सौन्दर्य निहारने लगी। सन्त पेरियालवारने आंडालको हार पहनते देखा तो क्रोधातुर होकर उसके पास गये और पूछा—"कन्ये ! क्या यही हार अपने भगवान्‌की पहिनाओगी ? आंडालने सहज ही हँसी बिखेरते हुए कहा—हाँ बाबा ! यह सुमनहार भगवान्‌को ही भेंट करूँगी····!"
इसपर संतने अपना क्रोध दबाते हुए आंडालको समझाया—यह तुम क्या करती हो ? भगवान्‌के हेतु सुमनहार तैयार किया और स्वयं पहिन लिया। यह हार भगवान्‌को कदापि अर्पित करने योग्य नहीं रहा !" आंडाल चुप रह गयी ! संतने दूसरा हार तैयार किया और स्वतः ही भगवान्‌को समर्पित कर आये ! आंडाल नहीं गयी।

कहते हैं उसी रात्रि में संतको भगवान्‌ने स्वप्न देकर यह आदेश दिया कि—मुझे **आंडाल द्वारा पहिनकर उतारी गयी माला ही अर्पित किया करो ! मुझे उसीमें प्रसन्नता है।**' इसी प्रकारका स्वप्न पुजारीको भी आया और आदेश प्राप्त हुआ। इस स्वप्नके पश्चात् फिर संत पेरियालवार और पुजारीने आंडालको माला पहिनने और भगवान्‌को अर्पित करनेसे नहीं रोका। उन्हें यह विश्वास हो गया कि आंडाल कोई साधारण कन्या नहीं है, बल्कि **राधाका ही रूप है** और राधाने ही इस युगमें आंडालका अवतार ग्रहण किया है !

सबसे अधिक आश्चर्यजनक आंडालका विवाह और जीवनका अन्त है। किशोरावस्थामें जब आंडाल विवाह योग्य हुई तो संरक्षक संत पेरियालवारने उसका विवाह एक सुयोग्य वरसे करना चाहा। इस पर आंडालने निर्भीक होकर विरोध किया और कहा—"मैंने भगवान् श्रीरंगनाथको अपने पतिके रूपमें स्वीकार कर लिया है; अतः मुझे अन्यत्र विवाह करनेके लिए बाध्य न करें !" यह उत्तर सुनकर सन्त बहुत प्रसन्न हुए और दूसरे ही दिन भगवान् रंगनाथके विशाल मन्दिरमें विवाहोत्सवकी तैयारी कर दी ! वैवाहिक—विधियोंके अनुसार सन्त पेरियालवारने आंडालको भगवान् श्रीरंगनाथको समर्पित कर दिया। कहा जाता है कि **जैसे ही आंडालने शेषशय्या पर प्रथम चरण रखा वैसे ही एक दिव्यालोक सर्वत्र व्याप्त हो गया और इस अपूर्व प्रकाशमें आंडाल देखते ही देखते लुप्त हो गयी !** यह भी उल्लेखनीय है कि दक्षिण भारतमें, विशेषतः रंगपट्टममें आज भी आंडालका विवाहोत्सव बड़ा आनन्दमग्न होकर मनाया जाता है।

जैसा कि प्रारम्भमें हम कह चुके हैं कि आंडाल केवल एक भक्त ही नहीं अपितु एक कवयित्री भी थी ! कुल १६ वर्ष तक जीवित रहनेवाली आंडालकी रचनाओंके दो काव्य-ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध हुए हैं ! १. तिरुप्पावें २. नाच्चियार तिरुमोलि । "दिव्य-प्रबन्धम्" में भी आंडालके तीस पद संग्रहीत हैं, जिन्होंने श्रीरामानुजाचार्यको बहुत प्रभावित किया ! इतना ही नहीं इन पदोंका मनन करनेमें वे इतने तल्लीन रहने लगे कि उन्हें "तिरुप्पावै सन्त" कहा जाने लगा ! सत्यता भी यही है आंडालके पद इतने अधिक भक्ति-रसमें ओतप्रोत हैं कि सहज ही मानव-हृदयको अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं ! उनकी कविताओंमें श्रीकृष्णके प्रति प्रेम व विरह दोनोंका सामंजस्य समन्वित है ! आंडालको तामिलनाडुकी मीरा कहा जाता है। उसीके अनुसार आंडाल और मीराके लौकिक जीवनमें अनेक घटनाओंमें समानता दृष्टिगोचर होती हैं ! मीराका विषपान करना और आंडालका लुप्त होना लगभग एक-सी घटना है । काव्यमें भी समान भाव परिलक्षित हुआ है !

ऐसा है कोई, पिव कूँ मिलावै, तन-मन करूँ सब पेस ।
तेरे कारन वन-वन डोलूँ कर जोगनको भेस ॥

× × × × (मीरा)

"उस प्रियतम ने
मेरी यह क्या दशा कर दी ?
सखि,
मैं अब किससे करूँ फरियाद !"

× × × × (आंडाल)

एक ओर यदि मीरा अपनी सुधबुध खोकर कहती हैं—

जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई

तो आंडाल अधरके रसको खोजते हुए सोचती है कि शंख ही उनके अधरोंसे लगता है अतः वह उससे परिचित होगा तो—

सखे शंख, बताओ तो,
लालसावश पूछती हूँ बात,
मेघवर्ण श्यामके
अधर का रस कैसा है ?

अन्तमें आंडालके जीवनको दृष्टिगत रखते हुए हम उन्हें प्रेमदिवानी मीराके रूपमें ही पाते हैं ! यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आगे चलकर महाप्रभु वल्लभाचार्यजीने भक्तिमें प्रपत्ति अर्थात् आत्मसमर्पणको जो महत्त्व दिया था उसका मूलस्रोत, उसका मूल आधार आंडालकी सूक्तियाँ ही हैं ! इसलिए हम उन्हें दक्षिण भारतकी भक्ति व भक्त-परम्परामें उतना ही श्रेष्ठ पाते हैं जितना उत्तर भारतकी भक्त-परम्परामें प्रेमदीवानी मीराको।

●

श्रीराधाका दिव्य अनुरागमय जीवन—

हिन्दी कवियोंकी अनन्य आराध्या राधा

श्रीनागेश्वर सिंह 'शशीन्द्र' विद्यालंकार

★

हिन्दी-साहित्यके इतिहासमें श्रीराधाका पदक्षेप एक विलक्षण सौभाग्यपूर्ण गौरवमयी घटना है। श्रीराधाके प्रेम-प्रवणजीवन-प्रदीपने संपूर्ण काव्यजगत्को आलोकित किया है। वेदोंमें श्रीकृष्ण तथा राधा दोनोंका सादर उल्लेख है।[1] महाभारतमें श्रीकृष्ण तो समर-संचालनके सूत्रधार ही हैं; द्रुपदकुमारीकी 'गोपीजन प्रिय !' इस आकुल प्रकारसे श्रीकृष्ण-वल्लभा गोपीशिरोमणि श्रीराधाकी ओर भी स्पष्ट संकेत प्रतीत होता है। जहाँतक प्राकृत-भाषा-ग्रन्थोंका प्रश्न है, गाथा-सप्तशतीमें 'राधा'का नाम आया है। पुराणोंमें स्कन्दपुराण और पद्मपुराण आदिमें श्रीराधाके उस दिव्य सच्चिदानन्दमय स्वरूपका वर्णन है, जो परब्रह्म श्रीकृष्णकी आह्लादिनी शक्ति एवं उनकी आत्मा है। ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण तथा श्रीमद्भा-

---

१. वेदोंमें श्रीसूक्तके मन्त्र जिस 'श्री'का गुणगान करते हैं, वे श्रीराधा ही हैं। आज भी व्रजवासी 'श्रीजी'के नामसे ही श्रीराधाका स्मरण करते हैं। सर्वभूतेश्वरी 'श्रीराधा'के लिए श्रीसूक्तमें 'करीषिणीम्' पद आया है। करीष सूखे गोबरको कहते हैं, उसका ढेर या तो गोलोकधाममें है, या व्रजमें। इससे भी वह स्तुति श्रीराधाके पक्षमें संगत होती है। पुरुष-सूक्तके पुरुष साक्षात् श्रीकृष्ण हैं। उनके भी दो स्वरूप हैं—विष्णु एवं कृष्ण। विष्णुपत्नी लक्ष्मी हैं और कृष्णवल्लभा श्री (राधा)। अतएव श्रुतिमें इन दोनोंका नामोल्लेख पाया जाता है—'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ।' श्री और लक्ष्मी ये दो पत्नियाँ हैं। श्रीजी प्रियतमकी आराध्या होनेसे 'राधा' कही गयी हैं। इनका दाम्पत्य नित्यसिद्ध, अनादि एवं शाश्वत है। प्रेमके आदर्शभूत विशुद्ध स्वरूपकी शिक्षा देनेके लिए ही इनका व्रजमें अवतरण हुआ था।

गवतमें भी श्रीकृष्ण समाराधित गोपी-विशेषका उल्लेख करके श्रीराधाकी ओर सुस्पष्ट संकेत किया गया है। महाभारतके दाक्षिणात्य संस्करणमें संपूर्ण श्रीकृष्णलीलाओंका सभापर्वमें वर्णन है। उत्तरीय संस्करणमें भी संक्षेपसे व्रजलीलाओंका वर्णन है। खिलपर्व हरिवंशमें तो व्रजलीलाओंका विशद वर्णन है ही। ब्रह्मवैवर्तपुराण तथा देवीभागवतमें भी मूल प्रकृति आद्याशक्तिके रूपमें श्रीराधा-चरित्रका विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। गर्गसंहिता तथा गोपालतापनीय उपनिषद्, राधिकोपनिषद्में भी श्रीराधाके महामहिम स्वरूपका निरूपण हुआ है।

वैष्णवाचार्योंने तो श्रीराधाका सादर स्मरण-वन्दन किया ही है; श्रीजयदेवके गीत-गोविन्दमें भी श्रीराधाका श्रीकृष्णानुरागमय दिव्य चित्र खींचा गया है। वहाँ उनकी प्रतिष्ठा परमाशक्तिके रूपमें की गयी है। ध्वन्यालोकमें तथा उससे भी सुदूर पूर्ववर्ती नैपधीयचरितमें भी प्रसंगतः श्रीराधाके नामका उल्लेख है। महाकवि कालिदासने भी 'गोपवेश विष्णु'का उल्लेख करके उनकी समस्त लीलाओंके प्रति अपनी स्वीकृति दे दी है। मध्ययुगमें श्रीराधाकी महिमाको लोग भूल-से गये थे, किन्तु वैष्णवसम्प्रदायके प्रभावसे पुनः उनकी भारतके कोने-कोनेमें सादर प्रतिष्ठा हुई और श्रीकृष्णकी अभिन्ना (अन्तरङ्गा) शक्तिके रूपमें पुरातन कालकी ही भाँति पूजित होने लगीं। पन्द्रहवीं शताब्दीमें श्रीराधाके दिव्य-प्रेममय जीवन-चर्याका प्रचुर वर्णन काव्यमें उपलब्ध होने लगा। विद्यापतिने श्रीराधाको अपने गीतकाव्यका प्रधान विषय बनाया। चण्डीदास और मधुसूदनने बंगलामें श्रीराधाका गुणगान किया और दक्षिण-पश्चिम भारतमें भी श्रीराधाको कृष्णकाव्यका विषय बनाया गया।[1]

---

१. इन सबसे भी पूर्व दक्षिण भारतमें भक्त बिल्वमङ्गलका 'श्रीकृष्ण-कर्णामृत' नामक काव्य मुखरित हुआ; जिसमें गोपी-भाव तथा श्रीराधा-भावके उज्ज्वल स्वरूपका दर्शन होता है। बंगाल तथा नवद्वीपमें महाप्रभु चैतन्यदेव तथा उनके भक्तोंने श्रीराधाकृष्णविषयक दिव्य-प्रेमकी मन्दाकिनी प्रवाहित की। उस दिव्य-मन्दाकिनीने उड़ीसाके सागरतटवर्ती पुरुषोत्तम-क्षेत्र तक आप्लावित किया। चैतन्यदेवने न केवल श्रीराधाका गुणगान किया, वे स्वयं भी राधा-भावमें विभोर रहे। उन्हें युगल प्रेमका अवतार माना गया है। गौडीय-सम्प्रदायके भक्त महाकवि रूप-सनातन, कर्णपूर आदिने तथा संस्कृतके अन्यान्य महाकवियोंने भी अपने काव्य-ग्रन्थोंके स्रोतसे श्रीराधाकी महिमाका महानद ही नहीं, महार्णव प्रवाहित किया है। श्रीराधाकृष्णका अलौकिक प्रेम भारतराष्ट्रके लिए महान् सौभाग्य एवं गौरवकी वस्तु है। इस दिव्य प्रेम-सागरकी एक कणिका भी प्राप्त हो जाय तो जीवका जीवन कृतार्थ हो जाय। खेद है कि कुछ भाषा-कवियोंने श्रीराधाकृष्णके स्वरूपको न समझकर उन्हें लौकिक शृङ्गारके नायक-नायिकाके रूपमें ही देखा है। भगवान् सबको सुबुद्धि दें और अपने दिव्य-प्रेमका प्रकाश देकर सबको अनुगृहीत करें।

—संपादक

विद्यापतिकी राधा जयदेवकी राधाकी भाँति न तो प्रेमाकुला हैं और न प्राप्त यौवना ही हैं। वे वय:सन्धिकी अवस्थामें उपस्थित होती हैं। भोली किशोरी राधा कुछ समय बाद अज्ञात यौवना हो जाती हैं। जब राधा और कृष्णका मिलन होता है तो प्रथम किशोरी राधा बीचमें मुग्धा हैं और अन्तमें हृदय और मनसे कृष्णमयी हो जाती हैं—

चानन भेल विषम सर हे भूषण भेल भारी।
सपनेहुँ हरि नहिं आयल रे गोकुल गिरिधारी॥
एक सरि ठाढ़ि कदमतर रे पथ हेरथि मुरारी।
हरि बिनु हृदय दगध भेल रे झामर भेल सारी॥
जाह जाह तोहें उधोहे तोहें मधुपुर जाहे।
चन्द्रवदनि नहिं जीवति रे, वध लागत काहे॥

सूरदासके राधाकृष्ण अति मानव होते हुए भी पूर्ण मानव हैं। सूरकी राधा कृष्णकी पत्नी हैं। उसमें कैशौर्यकी चंचलताहै जो तरुण वयकी लज्जाको बहुत पीछे छोड़ जाती है। राधा और कृष्णका चित्रण वहाँ बालकबालिकाके रूपमें नहीं बल्कि नागर-नागरीके रूपमें किया गया है, जिसमे अलौकिकताका आविर्भाव हो जाता है। सूरने अन्य लोगोंकी भाँति राधाको प्रथमसे ही वय:-प्राप्ता, यौवन-प्राप्ता नायिकाके रूपमें चित्रित नहीं किया बल्कि कुमार-कुमारीके असंकोच मिलनसे प्रारम्भ करके स्नेहके अंकुरको प्रेमका रूप दिया है।

भक्तिकालमें सूरदासके अतिरिक्त अन्य कृष्ण-भक्त कवियोंने भी अपने पदोंमें राधाके गीत गाये किन्तु सूरके सामने उनके पद बेजान प्रतीत होते हैं।

रीतिकालमें तो राधाके उस पावन चरित्रमें बहुत ह्रास हुआ, वहाँ राधा 'भवबाधा' हरनेवाली नहीं रहीं, नायक-नायिकाओंके प्रेमका विषय बनकर रह गयीं। मात्र बिहारीलाल ही ऐसे कवि निकले, जिन्होंने कुछ अंशोंमें ही सही, राधाका वह लोकपावन चरित्र अपनी आँखोंके सामने रखा :—

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तनकी झाँईं परे श्याम हरित दुति होइ॥

× × ×

तजि तीरथ हरि राधिका-तन दुति करि अनुराग।
जिहिं ब्रज केलि निकुंज-मग पग-पग होत प्रयाग॥

× × ×

मनु मान्यो केते मुनिन मनु न मनायो आइ।
ता मोहन पै राधिका झगरि झंवावति पाँइ॥

कविवर रसलीनने भी अपने 'अंगदर्पण' में राधाकी इसी तरहकी वन्दना की—

राधा पद बाधा हरन साधा कर रसलीन।
अंग अगाधा लखन को कीन्हो मुकुर नवीन॥

भारतेन्दुकी राधा सूरदासकी ही राधाकी तरह हैं। उन्होंने राधाके अवतरणकी बात इस तरह कही :—

जो पै राधा रूप न धरती।
प्रेम पंथ जग प्रकट न होती, ब्रजवनिता कहा करती॥

रत्नाकरने अपने 'उद्धवशतक' में राधाका वही प्रेम-रूप चित्रित किया, जहाँ उद्धव जैसे ज्ञानीकी ज्ञान-पोटरीमें भी प्रेमका रंग बँध जाता है। उद्धव भी वहाँ ज्ञान-वैराग्यकी बात भूलकर 'प्रेम दिवाने' बन गये हैं—

प्रेम मद छाके पग परत कहाँके कहाँ,
थाके अंग नैननि सिथिलता सुहाई है।
कहैं 'रतनाकर' यौं आवत चकात ऊधौ,
मानो सुधियात कोऊ भावना भुलाई है॥
धारत धरा पै ना उदार अति आदर सौं,
सारत बहोलिनि जो आँसु अधिकाई है।
एक कर राजै नवनीत जसुदा कौ दियौ,
एक कर बंसी वर राधिका पठाई है॥

मैथिलीशरण गुप्तकी राधा कृष्णके चरणोंमें अपनेको आत्मलीन देखनेवाली हैं—

सब सह लूँगी रो-रोकर मैं,
देना मुझे न बोध हरे!
इतनी ही विनती है मेरी,
इतना ही अनुरोध हरे!
क्या मानापमान करती हूँ,
कर न बैठना क्रोध हरे!
भूले तेरा ध्यान राधिका,
तो लेना तू शोध हरे!

महाकवि हरिऔधकी राधा उदार-हृदया है। उसे प्रतिक्षण यही चिन्ता है कि वह किस प्रकार विश्व-जीवनमें अपने जीवनको मिला लें। जब पुत्र-वियोगसे यशोदा मूर्च्छित हो उठती हैं तो उस समय वह यशोदाको हर तरहसे सान्त्वना देती हैं—

घंटों लेके हरि-जननि को गोद में बैठती थीं;
वे थीं नाना यतन करती पा उन्हें शोकमग्ना।

[शेष पृष्ठ ६१ पर]

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान : श्रद्धांजलि-महोत्सव

[दिव्य-झाँकी]

★

मथुरामें ४ सितम्बरको श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघकी ओरसे आयोजित भगवान्-श्रीकृष्णका श्रद्धांजलि-महोत्सव बड़ी धूमधाम तथा मनोरम झाँकियोंके साथ सम्पन्न हुआ। आयोजनको हमारे प्रबन्ध-सम्पादक श्रीदेवधरजी शर्माके अदम्य उत्साह और परिश्रमने बहुत ही दिव्यरूप प्रदान किया। सहस्रों नर-नारियोंकी भीड़के बाद भी शान्तिपूर्ण उत्साह तथा श्रवण-अभिरुचि तो देखने योग्य ही थी। दृश्यावलोकनके लिए 'श्रीकृष्ण-सन्देश'के इस अङ्कके आवरण-पृष्ठोंपर जन्मोत्सवके चित्र दिये जा रहे हैं।

महोत्सव-सभाकी अध्यक्षता सेठ श्रीगोविन्ददासजीने की। सञ्चालनका कार्य सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् डा० हजारोलाल माहेश्वरीने सम्पन्न किया। आप प्रत्येक वक्ताका परिचय तो प्रस्तुत करते ही थे, साथ ही विभिन्न प्रसंगोंपर अपने वर्तमान भाव व्यक्त कर लोकानुरंजनमें बहुत अधिक सहायक होते थे। आपकी प्रसन्न मुद्रा जनता-जनार्दनमें प्रसन्नताकी लहर बिखेर देती थी।

हमारे प्रमुख वक्ताओंमें पू० अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज, श्रीवियोगीहरिजी, श्रीसीतारामशरणदासजी तथा श्रीप्रभुदयालजी मित्तल थे। मथुराके श्रीलक्ष्मणजी चौवे बीच-बीचमें अपनी सुमधुर संगीत-स्वर-लहरियोंसे श्रोताओंको बराबर आप्यायित करते रहे। अमरनाथ-विद्याश्रम, कपूर-मण्डली तथा कुछ अन्य विद्यालयोंके छात्र और छात्राओंने भाग लेकर उत्सवको अत्यधिक आकर्षक बनाया। इन्होंने ग्वाल-बालों तथा गोपियोंके रूपमें जन्मलीलाके अद्भुत दृश्य प्रस्तुत किये। अभिनय द्वारा बधाई-गीत और नृत्य तो बहुत ही मनोरम रहे। अब देखिये भाषणोंका कुछ सार-संक्षेप—

श्रीप्रभुदयालजी मित्तलने भगवान् श्रीकृष्णकी अलौकिक महिमाका वर्णन करते हुए बताया कि आज भी व्रजभूमि उन्हीं प्रभुकी महत्तासे पूर्णतः परिव्याप्त है। धन्य है यह व्रजभूमि, जो आज भी सभीको अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहती। इसके कण-कणसे उनकी नाम-ध्वनि अहर्निशि निकल रही है। मन्दिरोंकी पूजा-अर्चा, महात्माओं द्वारा नाम-कीर्तन और सन्तोंका नित्य-निवास इसकी पवित्रताको अक्षुण्ण बनाये हुए हैं। हमारे जीवनमें उनकी साधना उतर आवे, यही हमारे जीवनकी सफलता और सार्थकता है।

पूज्य श्रीस्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराजने भगवान् श्रीकृष्णके लौकिक पक्षकी ओर ध्यान दिलाते हुए बताया कि भगवान् श्रीकृष्णने अपने जन्मका समय चुना वर्षाऋतु। इस समय चारो ओर कीचड़ ही कीचड़ होता है। पक्ष लिया अंधेरेका—अर्द्धरात्रिका समय है। यह दुष्ट-से-दुष्टतम लोगोंके उद्धारका आश्वासन है। पापात्माओंमें भी पुण्य-प्रकाश प्रकट करनेका सिद्ध-अमोघ उपाय है यह कृष्ण-जन्म। उन्होंने नाम भी ग्रहण किया 'कृष्ण'—काला।

उस समयके शक्तिशाली राजासे लोहा लेना था फिर भी उन्होंने राजकुमारों, सेठों या सम्राटोंका आश्रय नहीं लिया। उनकी कोई सहायता ग्रहण नहीं की। वे मथुरा आये तो मिले श्रीदामा मालीसे, उससे पत्र-पुष्पका श्रृंगार ग्रहण किया। भेंटकी दर्जीसे, जिससे कंसके दरबारके उपयुक्त वस्त्र ग्रहण किये, वह भी अपनी आवश्यकताभर। अन्ततः दीन-हीन कुब्जाका चन्दन-लेप स्वीकार किया—जो समाजमें, कंसके दरबारमें सबसे उपेक्षिता है, दासी है, सेविका है ; उसे उन्होंने अपने गले लगाया और पत्नीके समान सम्मान दिया।

इसी प्रकार आपने भगवान् श्रीकृष्णके संगीत, उनकी कला, रास आदि अनेक रसोंकी संक्षिप्त चर्चा की, जिनकी दिव्य सुगन्धसे सम्पूर्ण व्रज-मण्डल आज भी सरावोर है।

श्रीवियोगीहरिजीने बहुत संक्षिप्त भाषणका उपक्रम प्रस्तुत करते हुए बताया—आजके जीवनमें 'व्रजमाधुरी-सार'के समयकी बहुत-सी मान्यताएँ मनसे उठ गयी हैं, बहुत-से परिवर्तन हुए हैं, साथ ही अपनी राधाकृष्ण-सम्बन्धी कई सरस भावपूर्ण कविताएँ सुनायीं। जन्म-समारोहमें सम्मिलित होकर उन्होंने अपनी प्रसन्नता प्रकट की।

स्वतन्त्रता-संग्रामके कर्मठ सेनानी, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके अध्यक्ष, हिन्दी-सेवक-संघके प्रवर्तक तथा हिन्दी-साहित्यके सैकड़ों ग्रन्थोंके प्रणेता, संसद्-सदस्य—

सेठ श्रीगोविन्ददासजीने अपना भाषण आरम्भ करते हुए व्रजमण्डलके प्रति अनन्य प्रेम प्रकट किया। जन्मस्थानके इस महोत्सवमें सम्मिलित होनेका निमन्त्रण पाकर यहाँ आनेकी अपनी विशेष उत्कंठा व्यक्त की। साथ ही यह भी बताया कि जन्मस्थानके उपाध्यक्ष स्वामी श्रीअखण्डानन्दजीके चरणोंमें उनका विशेष अनुराग होनेसे वे हठात् इस ओर खिंच आते हैं, और ऐसा अवसर पाकर अपनेको सौभाग्यशाली तथा गौरवान्वित अनुभव करते हैं।

अपने भाषणमें सेठजीने बताया कि सभी धर्मोंमें महानात्माओंने जन्म लिया है। उन सबका अपना-अपना विशेष महत्त्व है। हमारे यहाँ ही अवतारोंकी संख्या बहुत है, उन भगवान्के विभिन्न अवतारोंमें भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्ण ही अत्यधिक प्रचलित और प्रमुख हैं। इन्हीं दोनोंके वर्णनसे हिन्दी-संस्कृत साहित्य ही नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व-साहित्य ओतप्रोत है। वहाँ तो भगवान् राम और कृष्णको ही सर्वोपरि स्थान मिला है। रामायण और भागवतकी श्रेष्ठतासे संसारकी किसी भी साहित्यिक कृतिसे तुलना नहीं की जा सकती। उपासनामें भी इन्हीं दोनोंकी प्रधानता होती गयी है। पीछे चलकर कुछ लोगोंने दोनोंके पार्थक्यको इतना घनीभूत कर दिया कि दोनोंके उपासकोंमें आपसमें मलीनता तथा द्वेषकी भी सृष्टि हो गयी। यद्यपि दोनों अवतारोंमें दो-चार कलाओंके न्यूनाधिक्यका वर्णन है, परन्तु दोनों परात्पर ब्रह्म हैं—एक दूसरेमें कोई अन्तर नहीं है। विचारक विद्वानोंको इस दिशामें ध्यान देना

चाहिए, जिससे भेद-बुद्धि लोक-मानससे उठ जाय और दोनोंकी समानताका तुलनात्मक-समन्व-यात्मक अध्ययन प्रस्तुत हो सके।

धार्मिक-आध्यात्मिक जगत्के प्रसिद्ध कथावाचक अयोध्याके लक्ष्मणकिलाधीश श्रीसीता-रामशरणदासजी महाराजने अपने प्रवचनमें भगवान् श्रीरामकी चर्चा करते हुए कहा कि 'वे भगवान् श्रीराम ही यहाँ श्रीकृष्णरूपमें प्रकट होते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने भी अनेक वार अपने प्रिय धनुर्धर श्रीरामके भक्तोंकोउस रूपमें दर्शन देकर अपनी अभेदता सिद्ध कर दी है। इतिहास साक्षी है कि मथुरापर सूर्यवंशियोंका एकाधिपत्य रहा है। भगवान् श्रीकृष्णकी प्रियतमा यमुना सूर्यपुत्री हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि भगवान् श्रीरामकी अयोध्या तथा भगवान् श्रीकृष्णकी मथुरा दोनोंका परस्पर कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है।' इस चर्चाको सुनकर समस्त श्रोतागण श्याममय तथा राममय हो उठे—भाव-विभोर हो गये। सारी सभामें हर्षध्वनि हुई। साथ ही लक्ष्मणकिलाधीशकी बधाई सुनकर तो सभीके सिर झूमने लगे और तालियाँ बजने लगीं।

नन्दके आनन्द भयो जय कन्हैया लालकी

—विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

[पृष्ठ ५८ का शेषांश]

धीरे-धीरे चरण सहला औ मिटा चित्त-पीड़ा,
हाथों से थीं युगल दृग के वारि को पोंछ देतीं॥
हो उद्विग्ना परम जब यों पूछती थीं यशोदा,
क्या आवेंगे न अब व्रज में जीवनाधार मेरे।
तो वे धीरे मधुर स्वर में हो विनीता बतातीं,
हाँ आवेंगे, व्यथित व्रज को श्याम कैसे तजेंगे॥

श्रीजानकीवल्लभ शास्त्रीकी राधा कोई नारी नहीं, वह एक भावना है जो स्वर्णवर्णा है, घनश्यामा है एवं निश्चल प्रेमकी प्रतिमा है—

राधिका न कोई नारी एक,
भावना वह दृश्यहारी एक।
हार लज्जा की नहीं वह देह,
राधिका का नाम निश्चल नेह।
स्वर्णवर्णा जो बनी घनश्याम,
हाय राधा है उसी का नाम।

वस्तुतः राधाने मध्ययुगमें भक्ति साहित्यको एक मोड़ दे दिया है, कहना सर्वथा उपयुक्त ही होगा कि राधाने हिन्दी साहित्याकाशमें ऐसा मंगल-कुमकुम विखेरा है जिसकी मादक सुरभिसे सम्पूर्ण वायुमंडल मह-मह कर रहा है। ●
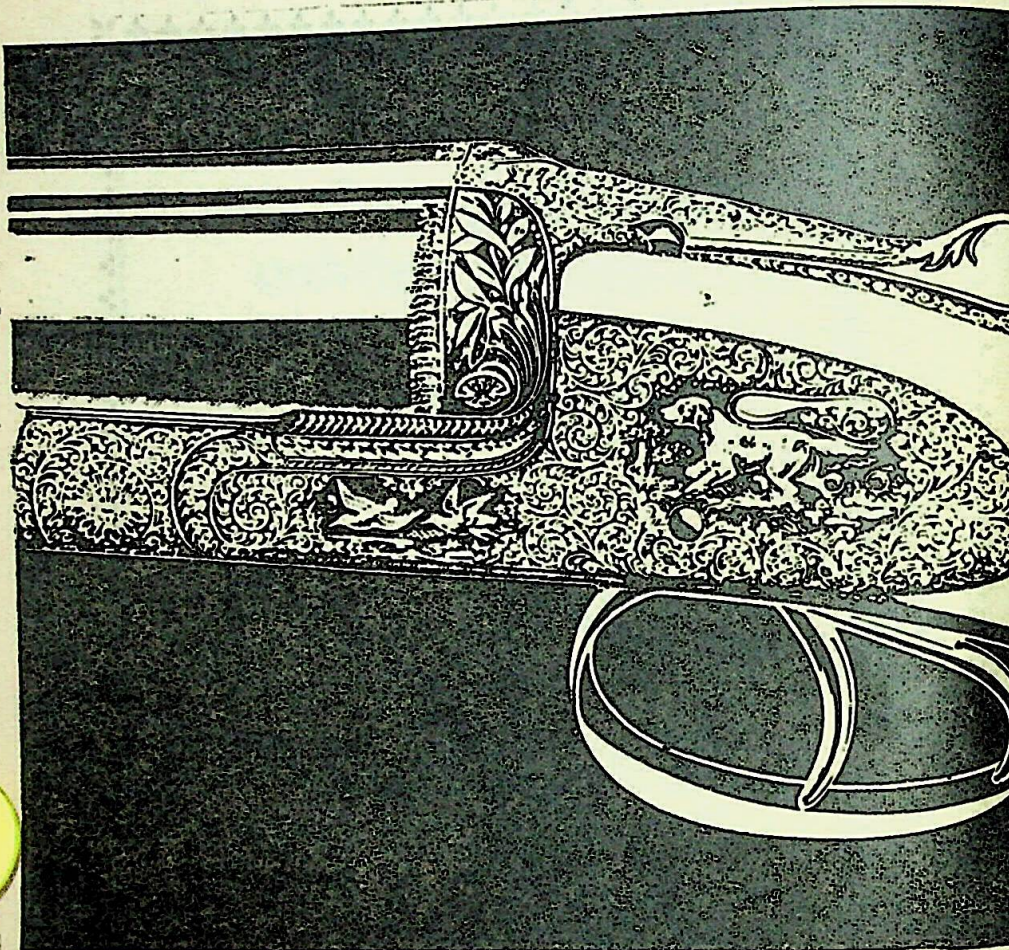
NPS/GR/206

श्रद्धांजलि-समारोहमें संघके मंत्री श्रीवियोगीहरिजी कविता-पाठ कर रहे हैं।

श्रद्धांजलि-समारोहमें सम्मिलित नर-नारियोंकी अपार भीड़का दृश्य।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा के लिए देवधर शर्मा द्वारा
आनन्द-कानन प्रेस, ढुण्ढिराज, वाराणसी-१
में मुद्रित एवं प्रकाशित।